लोक साहित्य

(Folk Literature)

प्रवेश कुमार

लोक साहित्य

लोक साहित्य
(Folk Literature)

प्रवेश कुमार

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5629-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

लोक साहित्य में काव्य कला संस्कृति और दर्शन सभी कुछ एक साथ हैं। यह शब्द विनिमय का प्रथम कला पूर्ण प्रारम्भ भी है, जिसके द्वारा यंत्र –मंत्र, जंत्र –तंत्र, पहेलियों, मुहावरे, लोकोक्तियों, लोककथाओं, गीतों आदि के रूप में प्रत्येक जाति अपनी जीवन पद्धति और उसकी प्रणालियों को आगे आने वाली पीढ़ी को सौंपती रही है। यही कारण है कि इसमें प्राचीन युग का साहित्य, धर्म दर्शन, विश्वास, संस्कार, कर्मकाण्ड तथा काल आदि सभी कुछ एक साथ प्राप्त होता है और इसी के द्वारा किसी भी देश, समाज व जाति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा बौद्धिक उन्नति को समझा जा सकता है।

लोक साहित्य एक ओर जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति है, तो दूसरी ओर सामूहिक जन –जीवन की रचना भी है जो कि जनमानस के दैनिक जीवन में फैली हुई है।यह सामूहिक कार्यक्रमों, पुत्र जन्मोत्सव, अन्नप्राशन, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह के गीतों में स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न प्रकार के गीतों के साथ भिन्न-भिन्न संस्कार, कर्मकाण्ड, अकारण नहीं हैं, बल्कि इनके पीछे कहीं न कहीं और कुछ न कुछ महत्त्वपूर्ण कारण अवश्य छिपे हैं।

लोक साहित्य की समस्त सामूहिकता इन्हीं गीतों में बिखरी है जिनमें जनता का काफी बड़ा भाग अपनी रचनात्मक प्रतिभा के लिए उपयोग हेतु सुअवसर

पाता है, जिसके परिणामस्वरूप ही इन गीतों का वस्तु-विषय, कथ्य-शिल्प आदि लोक मानस में प्रवेश कर जाता है।

यही कारण है कि लोक साहित्य में इतिहास को इतिहास के ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जाता, जैसा कि इतिहासकार करते हैं। वास्तव में लोक साहित्य कला, काव्य, संस्कृति और दर्शन का एक सुन्दर स्वरूप है, जिसमें रचनाकारों की कल्पना और उनके आदर्शों का समावेश रहता है जो सिर्फ प्राचीनता को ही प्रकट करता है।

लोक साहित्य इतिहास को एक प्रतिबिंब की भांति प्रस्तुत करता है जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन इतिहास की भांति न कर सामान्य जनता के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया जाता है। फिर लोक साहित्य की रचना जनता के ही कुशल शिल्पियों ने की है जो जनता की स्मृति में खो गये, लेकिन अपनी पहचान समाज में फैली हुई लोक कृतियों में छोड़ गये तथा जो जनता के मध्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर चलती और विकसित होती रही।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**विषय बोध**	1
	लोकसाहित्य का महत्व	6
	लोक साहित्य की भाषा	20
	राजस्थानी और गुजराती	27
2.	**लोक नाट्य**	30
	नाटक	32
	नाटक के तत्त्व	33
	देशकाल वातावरण	35
	इतिहास एवं उद्‌भव	36
	मध्यकाल	37
	आधुनिक काल	38
	हिंदी लोकनाट्य : विविधता में एकता	40
	भारत में रंगमंच का इतिहास	44
	भारत के आदिकालीन रंगमंच	45
	भरत के रंगमंच	46
	वर्तमान भारतीय रंगमंच	48
	प्राचीन हिन्दी नाटक	48

आधुनिक हिन्दी नाटक 49
भारतेन्दु-युगीन नाटक 50
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रचित नाटक 52
मौलिक नाटक 53
द्विवेदीयुगीन नाटक 58
नाटक लिखने की शैली 78
भिखारी ठाकुर एवं लोकनाट्य के विविध रुप 82
कथासार 90
3. लोक गीत 98
परिचय 98
प्रमुख लोक गायक 101
लोकसाहित्य एवं लोकगीत 107
लोकगीत का साहित्यिक स्वरूप 115
राजस्थानी लोकगीत 118
ब्रज के लोकगीत 123
मैथिली लोकगीत 137
कुमाऊँनी लोकगीत 139
बुंदेलखंडी लोकगीत 140
अवधी और भोजपुरी के लोकगीत 141
4. लोककथा 143
लोककथाओं के भेद 150
सिंहासन बत्तीसी 157
भारतीय लोक कथाओं का वैश्विक परिदृश्य 166
5. लोकगाथा 169
संक्षिप्त कथा 169
प्रचलित क्षेत्र 170
संकलन तथा अनुवाद 170
लोकगाथा का अर्थ 180
लोकगाथाओं की उत्पत्ति 181
भारतीय लोकगाथाएँ 186
प्रमुख गाथाओं का संक्षिप्त विवरण 197

1

विषय बोध

भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने की मानवीय लालसा ने विभिन्न माध्यमों को जन्म दिया। लेखन, संगीत तथा विभिन्न प्रकार-की कलाएँ इन्हीं माध्यमों में से थीं। अपने मनोभावों, विचारों तथा समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए लेखन कला एक सशक्त माध्यम के रुप में विकसित हुई। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक की यात्रा में भारतवर्ष तथा विश्व के अन्य देशों में ऐसे असंख्य लेखक हुए हैं, जिन्होंने अनेक विषयों को आधार बनाकर साहित्य रचना में अपना अमूल्य योगदान दिया है

मानव को अनुरंजित व आनंदित करने वाले लोक साहित्य की परम्परायें प्रत्येक देश व समाज में पायी जाती हैं। लोक साहित्य द्वारा ही युग -युग की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिचय हमें मिलता है।

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक तथा एक समुदाय से दूसरे समुदाय तक पहुंचने वाले लोक साहित्य की परम्परायें आज हम तक पहुंची हैं। यही वह कड़ियां हैं, जिन्होंने हमें इतिहास की लुप्त होती हुई कड़ियों को जोड़ने में सहायता पहुंचायी है। अतीत को वर्तमान से जोड़कर उसमें परस्पर समन्वय स्थापित करना इस साहित्य की एक अलग विशेषता रही है, जिसके परिणाम स्वरूप ही यह केवल सांस्कृतिक धरोहर एवं बीते हुए कल की आवाज मात्र न होकर आज भी जीवन्त सर्जना है। आज लोक साहित्य, वाणी है, इसी कारण

लोक साहित्य का महत्व शैक्षणिक एवं ऐतिहासिक क्षेत्रों में भी स्वीकार कर उपयोग किया जाता है।

लोक साहित्य शब्द अंग्रेजी के फोकलोर शब्द का अनुवाद है, जिसका सर्वप्रथम प्रयोग अंग्रेजी के विद्वान विलियम टाम्स ने किया था। इसी फोकलोर के समकक्ष हिन्दी में लोकसाहित्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। भारतीय लोक साहित्य जनता के व्यापक जनसमूह की सभी मौलिक सर्जनाओं का परिणाम है। यह केवल लोक काव्य या गीतों तक ही न सीमित न होकर जनता के जीवन धर्म, संस्कृति तथा परम्पराओं से भी जुड़ा हुआ है। फिर भारतीय लोक साहित्य की विशालता के समक्ष शिक्षितों का साहित्य दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। आवश्यकता है तो बस इसके संग्रह की। लोक साहित्य जनता के कंठों में देश के सभी राज्यों, भाषाओं और छोटी -छोटी बोलियों के रूप में भरा हुआ है।

आज का लोक साहित्य कल के लोक मानस की मौखिक सर्जना का परिणाम है। इसमें मानवता के विकास की उस समय की संस्कृति निहित एवं सुरक्षित है, जिस समय समाज में लेखन पद्धति का प्रादर्भाव भी न हुआ था और मनुष्य अपनी सर्जनाओं को मौखिक ही कण्ठस्थ कर लेता था, इसीलिए लोक साहित्य एक ऐसा पालना है कि जिसमें लेखन प्रणाली से पूर्व की मानव संस्कृति की अमूल्य निधि, धर्म, दर्शन, संस्कृति, परम्परायें, रीति -रिवाज, लोकाचार, संस्कार, कर्मकाण्ड, नृत्यगान काव्य -कथायें, नाटक आदि झूलते और खेलते रहे हैं।

लोक साहित्य में काव्य कला संस्कृति और दर्शन सभी कुछ एक साथ है।यह शब्द विनिमय का प्रथम कला पूर्ण प्रारम्भ भी है, जिसके द्वारा यंत्र -मंत्र, जंत्र -तंत्र, पहेली, मुहावरे, लोकोक्तियों, लोककथाओं, गीतों आदि के रूप में प्रत्येक जाति अपनी जीवन पद्धति और उसकी प्रणालियों को आगे आने वाली पीढ़ी को सौपती रही है।यही कारण है कि इसमें प्राचीन युग का साहित्य, धर्म दर्शन, विश्वास, संस्कार, कर्मकाण्ड तथा काल आदि सभी कुछ एक साथ प्राप्त होता है और इसी के द्वारा किसी भी देश, समाज व जाति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा बौद्धिक उन्नति को समझा जा सकता है।

लोक साहित्य एक ओर जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति है, तो दूसरी ओर सामूहिक जन -जीवन की रचना भी है। जोकि जनमानस के दैनिक जीवन में फैली हुई है।यह सामूहिक कार्यक्रमों, पुत्र जन्मोत्सव, अन्नप्राशन, मुण्डन,

यज्ञोपवीत, विवाह के गीतों में स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न प्रकार के गीतों के साथ भिन्न -भिन्न संस्कार, कर्मकाण्ड, अकारण नहीं हैं, बल्कि इनके पीछे कहीं न कहीं और कुछ न कुछ महत्वपूर्ण कारण अवश्य छिपे हैं।

लोक साहित्य की समस्त सामूहिकता इन्हीं गीतों में बिखरी है जिसमें जनता का काफी बड़ा भाग अपनी रचनात्मक प्रतिभा के लिए उपयोग हेतु सुअवसर पाता है, जिसके परिणामस्वरूप ही इन गीतों का वस्तु -विषय, कथ्यशिल्प आदि लोक मानस में प्रवेश कर जाता है।

यही कारण है कि लोक साहित्य में इतिहास को इतिहास के ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जाता जैसा कि इतिहासकार करते हैं। वास्तव में लोक साहित्य कला काव्य संस्कृति और दर्शन का एक सुन्दर, स्वरूप है, जिसमें रचनाकारों की कल्पना और उनके आदर्शों का समावेश रहता है। जो सिर्फ प्राचीनता को ही प्रकट करता है।

लोक साहित्य इतिहास को एक प्रतिबिंब की भांति प्रस्तुत करता है जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन इतिहास की भांति न कर सामान्य जनता के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया जाता है। फिर लोक साहित्य की रचना जनता के ही कुशल शिल्पियों ने की है जो जनता की स्मृति में खो गये, लेकिन अपनी पहचान समाज में फैली हुई लोक कृतियों में छोड़ गये तथा जो जनता के मध्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर चलती और विकसित होती रही।

लेकिन आज की शिक्षा प्रणाली के प्रसार के कारण हम अपने ही देश, समाज व संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं से दूर हो गये हैं और थोड़े से शब्दों की कोठरी में कैद हैं। उन शब्दों की परिधि हमें अपने ही देश में विदेशियों सा बनाये हुए है। इसीलिए यह प्रश्न उठता है कि वह देश कहां है जहां वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति जैसी महान विभूतियों की आत्माएं निवास करती हैं। कहां गयी वे संस्कृति की परम्परायें जिन पर देश व समाज आज भी गर्व करता है? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम भौतिकवादी रहन -सहन से अपने देश की परम्पराओं, संस्कृति, सभ्यता से दूर हो गये हैं अथवा हमारे अल्पज्ञान का विशाल अभिमान देश को शान्ति प्रदान करने वाली उस हवा का आनन्द लेने नहीं देता अथवा हमारे बीच विदेशी संस्कृति -संस्कार और भाषा लोहे की दीवार बने खड़े हैं यही वह प्रश्न हैं जोकि विवश करते हैं कुछ सोचने के लिये जिनके कारण हम काफी दूर खड़े हैं अपनी भाषा, संस्कृति और सभ्यता से।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक साहित्य अतीत की आवाज मात्र ही न होकर ऐसी कड़ी भी है जिसके अध्ययन के बिना किसी भी देश, समाज व संस्कृति से परिचित नहीं हुआ जा सकता है।।लोक सहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार–'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।' (लोक साहित्य विज्ञान, डॉ सत्येन्द्र, पृष्ठ-03)

साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोकसाहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है अतः जनसाहित्य (लोकसाहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोकसाहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अतः यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोकसाहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित रूप में सामने आए हैं किंतु अब भी मौखिक लोकसाहित्य बहुत बड़ी मात्रा में असंगृहीत है।

लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक-कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक-मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है। लोक-साहित्य में निहित सौंदर्य का मूल्यांकन सर्वथा अनुभूतिजन्य है।

सभी लोक-साहित्य मौखिक परंपराएं होती हैं, लोक-साहित्य, पारंपरिक ज्ञान और संस्कृति के प्रति आस्था प्रायः लिखित भाषा के रूप में नहीं होती है और वे सामान्यतः मुख से अभिव्यक्त शब्द के माध्यम से प्रसारित होती रहती हैं। लिखित साहित्य की भांति इनमें मिथक, नाटक और रीति रिवाजों आदि के अलावा पद्य और गद्य वर्णन दोनों शामिल होते हैं। सभी संस्कृतियों की अपनी

लोक कथाएं होती हैं। इसके विपरीत और पारंपरिक रूप से, साहित्य शब्द का तातपर्य किसी लिखित कार्य से होता है।

सभी लोक-साहित्य लोगों के आस-पास प्रकृति के विषय में मूल निवासियों के हृदय उदगार व्यक्त करने के अलावा और अधिक चीजों को चित्रित करती हैं। ये प्रायः संस्कृति, सामाजिक परंपराओं, रीतिरिवाजों और व्यवहार के रूपों का सदैव संवाहक होती हैं–इसका तात्पर्य समाज और संक्षेप में जीवन से होता है। लोक-साहित्यों में प्राचीन काल के उतकृष्ट विचार और सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्य शामिल होते हैं जो आमतौर पर सामान्य व्यक्ति की समझ से परे होती है और ये जटिल कथा रूपों में होती हैं।

साहित्य लिखित रूप में लोक-साहित्य और मौखिक परंपराओं के संरक्षण में सहायता प्रदान करता है। परंतु इस रूप में साहित्य से लगभग सभी लोक और मौखिक परंपराएं इस दुनिया से समाप्त हो गयी होती। लिखित पुस्तकें लोक-साहित्य के अभिलेख के रूप में मौखिक परंपराएं जहां यह प्रायः अंतरण में लुप्त हो जाती हैं के मुकाबले अल्प अथवा बिना किसी परिवर्तन के साथ भावी पीढी को उत्कृष्ट विचारों को अंतरित करने में सहायता प्रदान करती है। साहित्य वर्तमान पीढी को अतीत की उन कहानियों की प्रासंगिकता का चित्रण भी प्रस्तुत कर सकता है, जिसे मौखिक परंपराएं काफी दृढता के साथ नहीं कर सकती।

भारतीय साहित्य ने, विश्व में किसी अन्य साहित्य की तुलना में मौखिक परंपराओं और लोक-साहित्य के संरक्षण और प्रचार–प्रसार में एक प्रमुख भूमिका निभाई है। भारत, काफी प्राचीन काल से ही सभी कला रूपों अर्थात लोक कला का स्वामी रहा है। इस क्रम में सामवेद का वर्णन किया जा सकता है जो संभवतः लोक संगीत का प्राचीन रूप है और यह अब तक अस्तित्व में है। यदि कोई सामवेद को एक पुराने लोक संगीत के रूप में देखता है, तो भी यह अब तक विश्व की बेहतरीन और प्राचीन लोक संगीत में शामिल है।

भारत के महाकाव्यों से लेकर, रामायण और महाभारत तक बौद्ध धर्म की जातक कथाओं से लेकर पंचतंत्र तक और हितोपदेश से लेकर मध्यकालीन अवधि के कथा सरितासंग्रहण और बंगाल के बोल्स के आध्यात्मिक गीतों से लेकर भारत की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं की अनेक कृतियों को कहानी के रूप में लेखबद्ध करते हुए विद्वानों, संतों और लेखकों ने मौखिक परंपराओं और लोक-साहित्य को जीवंत रखा है।

लोक-साहित्य को संरक्षित करने में इन सदियों में सबसे अनोखी बात इस संबंध में महिलाओं द्वारा निभाई गई भूमिका शामिल है। अतीत की गार्गी और मैत्री द्वारा निभाई गई भूमिकाओं से लेकर विगत हजार सालों के प्रारंभ में तमिलनाडु की अंडाल से लेकर कश्मीर की ललेश्वरी से लेकर आंध्र प्रदेश में नेल्लोर की मोल्ला से लेकर कर्नाटक की अक्का महादेवी से लेकर सहजोबाई की भूमिका प्रशंसनीय है।

भारत, लोक कथाओं के संबंध में विश्व की एक समृद्ध स्रोतों में से एक रहा है। न केवल लोक कथाएं बल्कि मौखिक परंपराओं के सभी रूप अर्थात नीतिवचन, कहावतें, अफवाह, गीत और तात्कालिक लोक नुक्कड़ नाटक उस देश की संस्कृति और मूल्यों के दर्पण होते हैं, जिस देश में ये घटित होते हैं। ये किसी निश्चित स्थान में भी व्यापक रूप से भिन्न-भिन्न रीति रिवाजों और प्रथाओं को एक सूत्र में बांधने में भी सहायता प्रदान करती हैं। भारत ही ऐसा देश है जहां सबसे अनपढ़ किसान की बोली भी उत्कृष्ट विचारों और उपमाओं से परिपूर्ण होती है। क्षेत्र की अनेक कहानियां और अनेक गीतों और नीति वचनों और कहावतों से युक्त नाटकों को संरक्षित और अपनाते हुए, भारतीय साहित्य अदृश्य रूप से विशाल संस्कृतियों को एक साथ जोड़ने में एक व्यापक भूमिका निभाई है। भारत जैसी इस विशाल देश में सांस्कृतिक एकता और पहचान कायम रखने और इसे प्रोत्साहित करने में भारतीय साहित्य की भूमिका को कम नहीं किया जा सकता है।

लोकसाहित्य का महत्व

लोकसाहित्य के महत्व को हम साधारणत: छ: भागों में विभक्त कर सकते हैं–

ऐतिहासिक महत्व

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय, तो लोकसाहित्य में इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। मुगलों के शासनकाल में किस प्रकार देश में अशांति एवं दुर्व्यवस्था थी, इसका चित्रण अनेक लोकगीतों में पाया जाता है। भोजपुरी-क्षेत्र सदा से अपने वीर योद्धाओं के लिए विख्यात रहा है। शत्रुओं का पतन करने वाले वीरों की अनेक कहानियां गीतों में पाई जाती हैं। वीर कुंवर सिंह की वीरता एवं बहादुरी का वर्णन एक गीत में मिलता है, जो इस प्रकार है–

लिखि लिखि पतिया के भेजलन कुंवर
सिंह ए सुन अमर सिंह भाय हो राम।
बाबू कुंवर सिंह भाई अमर सिंह
दोनों अपन हैं भाय हो राम।
दानापुर से जब सजलक हो कम्पू
कोइलवर में रहे छए हो राम।

इस प्रकार गीत में कुंवर सिंह की सेना का दानापुर (पटना) से चलकर कोइलवर में आने का उल्लेख है। इसके अलावा ऐसे भी गीत मिलते हैं, जिनमें 1857 ई. के समय अवध में नवाब का गद्दी से हटने के पश्चात उनकी बेगमों द्वारा विलाप करने का वर्णन है।

गलियन गलियन रैयत रोवे हटियन बनिया बजाज रे।
महल में बैठी बेगम रोवैं डेहरी पर रोवै खवास रे।
मोती महल की बैठक छूटी। छूटी है मीना बाजार रे।

इस प्रकार महात्मा गांधी के नेतृत्व में हुए राष्ट्रीय आन्दोलन का भी वर्णन लोकगीतों में पाया जाता है। अत: ऐतिहासिक घटनाओं से संबंधित अनेक लोकगीत मिलते हैं, जिनसे ऐतिहासिक घटनाओं का प्रामाणिक तौर पर उदाहरण भी मिलता है।

भौगोलिक एवं आर्थिक महत्व

लोकगीतों, लोककथाओं इत्यादि के माध्यम से स्थानीय भौगोलिक क्षेत्रों से संबंधित बातों का भी पता चलता है। लोकगीतों में बहुत-सी नदियों तथा नगरों के नाम मिलते हैं। नदियों में गंगा, यमुना, सरयू, सोन इत्यादि तथा शहरों में काशी, प्रयाग, पटना, जनकपुर, अयोध्या इत्यादि नाम मिलते हैं। इसके अलावा लोकगाथाओं में भी अनेक छोटे-छोटे गांवों के नाम मिलते हैं, जो समय के साथ लुप्त हो गये। साथ ही लोकगीतों में बहुत सारे गीत जन-जीवन के आर्थिक पक्ष को उजागर करते हैं। लोककथाओं में भी सोने की थाली में भोजन करने और आभूषणों की प्रचुरता का वर्णन मिलता है। कोई स्त्री पति के परदेस जाने पर कहती है कि–

सोने की थाली में जेवनां परोसलो जेवना न जेवें अलबेला बलमु कलकत्ता निकल गयो जी।

भोजपुरी का एक मुहावरा है–दूध से पैर धोना और घी से स्नान करना इससे स्पष्ट होता है कि इन चीजों की प्रचुरता थी, जो कि लोगों की आर्थिक सम्पन्नता का प्रतीक है। साथ ही सोने की कंघी, चन्दन की लकड़ी का पलंग, चांदी का पालना तथा पकवानों में बासमती चावल, पुआ, पूड़ी इत्यादि का उल्लेख मिलता है, जो कि आर्थिक स्थिति को बताते हैं।

सामाजिक महत्व

समाज का वास्तविक चित्र लोकसाहित्य में दृष्टिगत होता है। लोकगीतों, गाथाओं और कथाओं से मनुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान और रीति-रिवाजों की जानकारी प्राप्त होती है। मध्यप्रदेश की आदिम जातियों, जिनका एक करमा गीत का भाव है– 'यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो तो मेरे गीतों को सुनो। लोकगीतों में पति-पत्नी, भाई-बहन, माता-पुत्री, ननद-भावज और सास-बहू के संबंधों का वर्णन मिलता है। पुत्री के विवाह हेतु वर ढूंढने से लेकर उसकी विदाई तक में परिवार द्वारा रोने का सजीव चित्रण लोकगीतों में मिलता है। साथ ही बाल-विवाह, वृद्ध विवाह और बहू-विवाह का भी वर्णन मिलता है। इस प्रकार समाज का चित्रण हमें लोक साहित्य में मिलता है।

धार्मिक महत्व

धार्मिक जीवन-संबंधी बातों का अध्ययन भी हमें लोकसाहित्य में मिलता है। लोकगीतों में गंगा माता, तुलसी माता, शीतला माता तथा षष्ठी माता का गायन करने का उल्लेख मिलता है। गंगा जी में स्नान करने से समस्त पापों के धुलने की बात कही गयी है। विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा आदि का वर्णन भजनों के माध्यम से किया जाता है। विभिन्न व्रत-त्यौहारों में देवी-देवताओं संबंधी गीत गाये जाते हैं। इसके अलावा लोककथाओं में भी धर्म-संबंधी बातों का वर्णन किया गया है। धर्म और नीति की शिक्षा देने के लिए लोककथाओं का बड़ा ही महत्व है।

नैतिक महत्व

लोकसाहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन समय में समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊंचा था। भोजपुरी लोकगीतों में स्त्रियों द्वारा सतीत्व को

प्रमाणित करने तथा पवित्र सिद्ध करने हेतु आग में प्रवेश करने तथा जलसमाधि लेने का उल्लेख मिलता है। भारत में सती-धर्म का पालन बड़ी कठोरता के साथ किया गया है। इसका उल्लेख भी लोकसाहित्य में मिलता है।

भाषाशास्त्र-संबंधी महत्व

भाषाशास्त्र लोकसाहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। सुप्रसिद्ध भाषातत्त्ववेता डॉ. सुनीतकुमार चटर्जी ने कहा है कि जो लोग लोकसाहित्य का संग्रह कर रहे हैं, वे भावी भाषाशास्त्रियों के लिए अमूल्य साम्रगी उपस्थित कर रहे हैं। लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं, को सुलझा सकते हैं। अनेक शब्दों की ऐतिहासिक परम्परा को जानने के लिए लोकसाहित्य का अध्ययन उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उदाहरण हेतु 'जुगवत शब्द, जिसका प्रयोग लोकगीतों में सावधानी के साथ किसी वस्तु की रक्षा करने के अर्थ में हुआ है।

लोक साहित्य के विविध रूप

अभी तक हमने लोकवार्ता के रूप को परखा है ओर उसके साथ लोक साहित्य के संबंध पर विचार किया है। अब लोक साहित्य के विविध रूपों पर बात करना अप्रासंगिक न होगा। मोटे तौर पर हम इस साहित्य को तीन रूपों में प्राप्त करते हैं एक-कथा, दूसरा-गीत, तीसरा-कहावतें आदि। लोककथाओं की विभेदता भी तीन रूपों में मानी जाती है–धर्मगाथा,लोकगाथा तथा लोक कहानी। धर्मगाथा (माईथालाजी) पृथक अध्ययन का विषय है। शेष कथा के दो भाग रह जाते है लोकगाथा तथा लोक कहानी। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने इन दोनों का पृथक-पृथक अस्तित्त्व स्वीकार करते हुए लोक साहित्य को चार रूपों में बांटा है एक-गीत, दूसरा-लोकगाथा, तीसरा-लोककथा तथा चौथा-प्रकीर्ण साहित्य जिसमें अवशिष्ट समस्त लोकाभिव्यक्ति का समावेश कर लिया गया है।

वैसे तो धर्मगाथाएँ पृथक अध्ययन का विषय है, किन्तु लोक-कहानी और धर्मगाथा में जो विशेष अन्तर आ गया है उसे समझ लेना अहितकर न होगा। धर्मगाथा अपने निर्माण काल में एक सीधी-सादी लोक-कहानी ही होती है, परन्तु उस कहानी में धर्म की एक विशेष पुट लग जाती है जो उसे लोक-कहानी के वास्तविक आधार से पृथक कर देती है। डॉ. सत्येन्द्र ने इस ओर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि धर्मगाथा स्पष्टत: तो होती है एक कहानी पर उसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो उसके सृष्टा ने आदिम

काल में देखा था ओर जिसमें धार्मिक भावना का पुट होता है। ये धर्म गाथाएँ हैं तो लोक साहित्य ही, किन्तु विकास की विविध अवस्थाओं में से होती हुई वे गाथाएँ धार्मिक अभिप्राय: से संबद्ध हो गयी हैं। अत: लोक साहित्य के साधारण क्षेत्र से इनका स्थान बाहर हो जाता है और यह धर्मगाथा संबंधी अंश एक पृथक ही अन्वेषण का विषय है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि क्वीन ऑफ दि एअर्स' में जॉन रस्किन ने धर्मगाथा की मीमांसा देते हुए लिखा है कि यह अपनी सीधी-सादी परिभाषा में एक कहानी है जिससे एक अर्थ संपृक्त है और जो प्रथम प्रकाशित अर्थ से भिन्न है।

लोकगाथाएँ (अवसाद, किस्से या साके) वे काव्यमय कहानियाँ हैं जिनका आधार इतिहास है अथवा जिन्हें कालक्रम से ऐतिहासिक महत्व हासिल हो चुका है। लोक मानस की वे घटनाएँ जो कोरी कल्पना-जन्य हैं वह आगे चलकर ऐतिहासिक रूप प्राप्त कर जाती हैं। जिन जातियों का मानसिक विकास नहीं हुआ है उनमें थोड़े से चमत्कारपूर्ण कार्य करने वाले व्यक्ति युग-पुरूष अथवा ऐतिहासिक पुरूष की भांति पूजे जाते हैं। ठीक इसी प्रकार का एक किस्सा (अवदान, गाथा) हरफूल जाट जुलाणी वाले का है जिसने अपने जीवन की बाजी लगाा कर बधिकों से (कसाइयों से) गायें छुड़ा ली थीं। आज भी गोमाता के पुजारी प्रदेश हरियाणा की साधारण जनता हरफूल जाट के वीर रसात्मक किस्सों को गा-गाकर आनन्द मनाती है। अन्य जनपदीय जातियों में भी ऐसे अनेक किस्से आपको मिल जायेंगे।

किस्सों की परख से यह स्पष्ट है कि इनमें इतिहास के अवशेषों को ही मरने से नहीं बचाया गया है पर साम्प्रतिक पुरूषों के किस्से भी चमत्कृत रूप में मिले हैं। अत: साके प्राचीन प्रवीरों और सिद्ध महात्माओं के ही हों ऐसी बात नही है, ये साके सामयिक पुरूष संबंधी भी हो सकते हैं, बल्कि होते भी हैं। यथा-'किस्सा हरफुल जाट जुलाण का इन नये व्यक्तियों के संबंध में बड़ी अद्‌भुत कल्पनाएँ कर ली जाती हैं। सर आर. सी टेम्पल ने 'लीजेंड्स ऑफ दि' पंजाब में इन किस्सों को छ: भागों में बाँटा है। इन छ: चक्रों में से एक चक्र उन कथाओं का भी है जो स्थानीय वीरों से संबंध रखती हैं।

हमने लोक गाथाओं को अवदान, साका, राग या किस्सा के नाम से अभिहित किया है। इस साहित्यिक विद्या का एक नाम राजस्थानी में ख्यात भी प्रचलित है। ये ख्यातें रासो से भिन्न वस्तु हैं। रासो साहित्यिक वीर कथाएँ हैं ओर ख्यातें मौखिक कथाएँ हैं। ये लोक गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं। एक प्राचीन

पुरूषों की शौर्य की कहानियाँ है जिन्हें वीरकथा कहा जा सकता है। इन्हें ही 'पंवारा भी कहते हैं यथा 'जगदेव का पंवारा। इनमें पुराण पुरूषों का अस्तित्त्व निर्विवाद मान लिया जाता है। दूसरे-साके। ये उन पुरूषों के शौर्य से सम्बन्धित हैं जिनके प्रति इतिहास साक्षी है। साके में जीवन तथा शौर्य का विस्तार अपेक्षित है।

लोककथा निस्संदेहात्मक तया लोकगाथा से भिन्न वस्तु है जो विद्वान इन दोनों को एक लोक कहानी के ही लघु और विशाल रूप कहते हैं उन्होंने उनके मर्म को पहचानने का प्रयास नहीं किया। लोक साहित्य के ये दोनों रूप आपस में भिन्न हैं। लोक कथाओं में कहानियों के दोनों तत्त्व-मनोरंजन एवं शिक्षा पाये जाते हैं। जो कहानियाँ केवल शिक्षा के लिए ही निर्मित हुई हैं उनके लिए अलग नाम भी दिया गया है। इन कहानियों को भारतीय साहित्य में तंत्रख्यान या पशु पक्षियों की कहानियाँ कहा गया है। अंग्रेजी में ऐसी कहानियों का नाम फेबिल दिया गया है।

'काल्पनिक कथाएँ, वास्तव में, वैसी नहीं जैसी दिखाई देती हैं। हमारे धर्मोपदेष्टा चूहे और मृगशावक भी हो सकते हैं। हम उपदेश सुनते-सुनते ऊँघने लगते हैं, किन्तु शिक्षाप्रद कहानियों को प्रसन्नतापूर्वक पढ़ते हैं और वर्णन का खूब आनन्द लेते हैं। भारतीय कथा साहित्य में इस प्रकार के आख्यानों की कमी नहीं है। विष्णु शर्मा का पंचतंत्र और हितोपदेशशृंगाल-काको लूक के मध्य चलने वाले जीवनोपयोगी आख्यान ही तो हैं। भारत के ये आख्यान संसार के श्रेष्ठतम फेबिलस् में से हैं। इनकी यही विशेषता है कि इनमें किसी न किसी प्रकार की शिक्षा अवश्य मिलती है।

यहाँ पर इतना और ध्यान दे लेना चाहिए कि प्रत्येक वह कहानी जिसमें पशु-पक्षी किसी भी रूप में आये है तंत्रमूलक अथवा नीतिमूलक कहानी नहीं कहला सकती। फेबलस् वे ही कहानियाँ हैं जिनमें नीति बतलाई गई है अथवा कोई सुनिश्चित उपदेश दिया गया है। बौद्ध जातकों में आई हुई वे पशु-पक्षी संबंधी कहानी कदापि तंत्रख्यान नहीं कहलायेंगी। कारण कि वे धर्मभावना को जागृत करके चुप हो जाती हैं और उनका आदर धर्म-श्रद्धा से होता है। यही स्थिति वेदों में मिलने वाली उन कहानियों की है जिनमें पशु-पक्षियों का नाम आया है।

लोक साहित्य के कथा भाग पर विचार कर चुकने पर लोक गीत और लोक कहावतें, पहेलियाँ आदि रहती हैं। लोक गीत लोक मानस के वे अजस्त्र एवं निश्छल प्रवाह है जिनका प्रतिभा के द्वारा विभिन्न अवसरों पर निर्माण होता

है एवं गान होता है। संक्षेप में लोकगीत लोक द्वार लोक के लिए गाया गया गीत होता है। लोक गीतों की संख्या उतनी हो सकती है जितने जीवन के पहलू हैं।

प्रकीर्ण साहित्य में उस समस्त लोकाभिव्यक्ति का समावेश होता है जो लोककथा, लोकगाथा और लोकगीत की परिधि से बाहर पड़ जाती है। इस प्रकार इनमें लोक के वे सभी अनुभव जो समय-समय पर होते हैं आ जाते हैं। पहेलियाँ, सूक्तियाँ, बुझौबल, कहावतें, बालकों के खेलकूद के वाणी विलास आदि सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इनका विवेचनात्मक वर्णन भी यथास्थान दिया गया है।

लोक साहित्य की विशेषताएँ–लोक साहित्य जिसके रूपादि का ऊपर वर्णन हुआ है उसकी विशेषताओं पर दृक्पात करना असमीचीन न होगा। लोक साहित्य को कुछ विद्वानों ने लोक श्रुति (वेद) कहा है। वेद का नाम श्रुति इसी विशेषता के कारण पड़ा है कि यह शिष्य परंपरा श्रुतिबल से चलता आया है। लोक साहित्य भी इसी कर्ण परम्परा से आगे बढ़ता है। वह दादी से पोती तक, नानी से धेवती तक श्रुति मार्ग से आया है। यही इसकी प्रथम एवं प्रमुख विशेषता मानी जाती है। इसके विपरीत प्रणीत साहित्य मौखिक परम्परा की अपेक्षा लेखनी परम्परा पर गर्व करता है। यदि लेखबद्धता का वह गौरव लोक-साहित्य को मिल जाये तो वह एक प्रकार से वह निष्प्राण हो जायेगा। लिपि का प्रसाद भले ही गीतों, गाथाओं, कथा-कहानियों को सुरक्षित रख ले परन्तु उनकी अनुप्राणिकाशक्ति उसी क्षण नष्ट हो जाती है जब कि वे लेखनी की नोक पर सवार होकर कागज की भूमि पर उतरना आरंभ करते हैं। उनको सुरक्षा, सौन्दर्य एवं सम्मान भले ही मिल जाये किन्तु उनमें वह स्वाभाविक उन्मुक्त प्रवृत्ति नहीं रहती जिसमें वे जन्में हैं, पनपे हैँ और पुष्ट हुए हैं। वह गमले के पौधे की भाँति हरा-भरा रहता हुआ भी अशक्त और भविष्यत् की उन्नति से विमुख रहता है। फ्रेंक सिजविक के ये शब्द कितने तथ्यपूर्ण हैं कि लोक साहित्य का लिपिबद्ध होना ही उसकी मृत्यु है। वस्तुतः लोकसाहित्य की मौखिकता ने ही उसे व्यापकता एवं अनेक रूपता प्रदान की है।

इसी बात को प्रो. किटरेज ने 'इंगलिश और स्काटिश बैलेड्स की भूमिका में इस प्रकार कहा है–लोक-साहित्य का शिक्षा से कोई उपकार नहीं होता..... जब कोई जाति पढ़ना सीख लेती है, तो सबसे पहले वह अपनी परंपरागत गाथाओं का तिरस्कार करना सीखती है। परिणाम यह होता है कि जो एक समय सामूहिक जनता की संपत्ति थी वह अब केवल अशिक्षितों की पैतृक संपत्ति मात्र रह जाती है।

एक दूसरी विशेषता, जो लोक साहित्य के पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, वह है उसकी अनलंकृत शैली। शिष्ट साहित्य में सालंकारता के प्रति विशेष आग्रह होता है। यत्र-तत्र अनलंकृत भी क्षम्य है-' अनलंकृतिः पुनः क्वापि (मम्मट-काव्य प्रकाश, काव्य का लक्षण) पर लोक साहित्य में बनावट, सजावट, कृत्रिमता ओर अलंकरणप्रियता का आग्रह नहीं है। यह तो उस वन्य कुसुम के सदृश है जो बिना संवारे हुए भी अपनी प्राकृतिक आभा से दीप्तिवान है। इसमें नैसर्गिक रूक्षता (खुरदरापन) है, किन्तु है एक लावण्य एवं सौन्दर्य से संयुक्त। सालंकार काव्य से लोक-गीतों का वैशिष्टय प्रदर्शित करते हुए पं. रामनरेश त्रिपाठी के ये शब्द चिरस्मरणीय रहेंगे-'ग्राम-गीत और महाकवियों की कविता में अंतर है-ग्राम-गीतो में रस है, महाकाव्य में अलंकार। ग्रामगीत हृदय का धन है और महाकाव्य मस्तिष्क का। ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं, इनमें अलंकार नहीं केवल रस है, छंद नहीं केवल लय है, लालित्य नहीं केवल माधुर्य है, -'कितने सार्थक हैं त्रिपाठी जी के ये शब्द। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इनमें दंडी का पद लालित्य, भारवी का अर्थ-गौरव और कालिदास की अनूठी उपमाएँ न देखने को मिलें-बेशक, पर इनमें रस का एक पारावार लहरा रहा है जो सहृदय संवेद्य है।

सादगी लोक कविता का सर्वस्व है। साहित्यिक कविता में ऊहा और कल्पना के वे रंग हैं जो कालान्तर में छूछे हो जाते हैं। लोक कविता अपने नैसर्गिक रंग में मानव के उषाःकाल से जीवित है और जीवित रहेगी। इस काव्य क्षेत्र में अलंकार बहिष्कार की शपथ नहीं ली गई है। ये तत्त्व अस्पृश्य एवं त्याज्य नहीं ठहराये गये हैं। अतः रीत्यलंकार पारखी अनावश्यक रूप से निराश व चिंतित न हों। उन्हें स्थान-स्थान पर बड़े भव्य एवं सुन्दर अलंकार चारों ओर बिखरे मिलेंगे। हमारा कहने का अभिप्राय केवल यह है कि लोक साहित्य में शिष्ट साहित्य की भाँति रीत्यलंकारों के प्रति आग्रह नहीं होता।

लोक साहित्य की तीसरी प्रमुख विशेषता है रचयिता और रचना काल का अज्ञात होना। दादी नानी से चली आती हुई दंतकथाओं और गीतों आदि की परंपरा किस युग से चली और किस कृति के पुण्यों का परिणाम है इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं। यों तो सभी रचनाएँ किसी न किसी व्यक्ति की प्रतिभा का प्रसाद है, किन्तु उसका व्यक्तित्त्व इस परंपरा में अज्ञातावस्था में है। वास्तव में, इन गीतादिकों के कर्त्ता वे निरीह जन हैं जिन्होंने अपने नाम और ग्राम की चिंता न करते हुए समाज के लिए अपनी प्रतिभा की भेंट दी है। कालक्रम से अज्ञातनाम

व्यक्ति विशेष की रचना में समुदाय ने भी अपना योगदान दिया और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि वह वस्तुतः समुदाय की है और समुदाय के लिए है। समुदाय का योग मिलना आवश्यक है। इसी से कविता के आरंभ पर विचार करते हुए कुछ विद्वानों ने कहा है कि आदि में कविता समस्त समुदाय के प्रयत्नों से बनी। किसी ने कुछ जोड़ा, किसी ने कुछ और एक पद बना। इसी प्रक्रिया से कविता आगे बढ़ी है। इससे एक कठिनाई अवश्य हुई है कि लोक साहित्य का कोई मूल पाठ नहीं मिलता। यह भी कहा जा सकता है कि संभवतः कोई निश्चित मूल पाठ रहा भी न हो। इसका एक विपरीत परिणाम यह भी हुआ है कि कई लोगों को घाघ, भड्डरी आदि की कहावतों की लोक साहित्य कहने में आपत्ति हुई है। किन्तु इन लोक कलाकारों का व्यक्तित्त्व इतना व्यापक और महान हो चुका था कि इनके नाम भी एक समुदायवाची बन गये हैं। इन्होंने 'स्कूल का रूप ले लिया है। सच पूछा जाये तो इन नामों में नाम की गंध न रह गई है। ये तो आप्त पुरूष के रूप में शेष हैं। भले ही वह पुरूष घाघ, भड्डरी हो, या हो अन्य कोई लोक नाट्यकार दीपचंद जैसा व्यक्ति। लखमी हरियाने का लोक सांगी इस रूप में है कि उसमें लोक नाट्यकार के लिए जिस सूझ, व्यक्तित्त्व और प्रतिभा की आवश्यकता होती है वे सब एक-एक करके विद्यमान हैं। उसकी कल्पना इतनी निराली और व्यापक तत्त्वों से समन्वित थी कि दर्शकवृन्द 'वाहा दादा, वाह दादा कहकर पुकार उठते और रसानुभूति से उन्मत हो जाते थे। लोक साहित्य की अन्य विशेषता यह है कि यह प्रचार या उपदेशात्मक प्रवृत्तियों से अछूता है। विशुद्ध लोक साहित्य में प्रचार, प्रोपैगेन्डा अथवा उपदेश का अभाव रहता है। उसमें तो विरह, वीरता करूणादी के सात्विक भाव भरे होते हैं जो जन-जन को एक रूप से प्रिय एवं ग्राह्य हैं। यहाँ पर यह आपेक्ष किया जा सकता है कि लोकोत्तियों में भी तो उपदेशात्मक प्रवृत्ति है फिर वे लोक साहित्य का प्रमुख अंग क्यों कर हैं? विचारने पर प्रतीत होगा कि लोकोक्ति साहित्य का प्राण वह कोरा उपदेश ही नहीं है। लोकोक्ति तो वह विट् एवं चमत्कार है जो शत-शत अनुभवों के द्वारा प्राप्त हुआ है और किसी के मुख से चमत्कृत रूप में प्रसूत हुआ है। इसलिए लोकोक्ति केवल 'अभिव्यक्ति पर जीवित है उपदेश पर नहीं। उपदेश तो वहाँ एक गौण तत्त्व है।

लोक साहित्य की एक और विशेषता यह भी है कि उसमें साम्प्रदायिकता के लिए स्थान नहीं है। वह पक्षी व पवन के सदृश स्वच्छंद है। उसे शाक्त एवं वैष्णव की आलोचना से कुछ नहीं लेना देना है। उसे विष्णु भी उतने ही पूज्य

हैं जितनी कि शक्ति या काली आराध्या। उसकी निर्गुण ब्रम्ह में उतनी ही आस्था है जितनी कि सीताराम, राधाकृष्ण और शिव-पार्वती में। लोक साहित्यों से महान बना दिया है।

अंत में इस बात को समाप्त करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं यदि कविता का कार्य पाठक को संवेदनशील बनाना, सोचने समझने की शक्ति देना और जीवन की रसमय व्याख्या करना है तो निश्चय ही शास्त्रीय कविताएँ अधिकांश में असफल रही हैं। लोकगीत चाहे जिस देश व जाति के हो कविता के वास्तविक उत्तरदायित्व को बहुत अंश में पूरा करते हैं, निभाते हैं।

लोक साहित्य का महत्व -उपरोक्त विवेचन से हम उस कोने पर पहुँच गये हैं जहाँ से सरलतया लोक साहित्य के महत्व को आंका जा सकता है। लोकसाहित्य का महत्व बहुविध है। विचार करने पर पाठ को धर्मगाथा (माइ थालाजी), नृविज्ञान (एनथ्रापोलोजी), जाति विज्ञान (एथनोलोजी) और भाषा विज्ञान (फाइलालोजी) आदि क्षेत्रों में लोक साहित्य की महत्ता, विशेष रूप से अनुभव होगी। यदि हम कहें कि लोक साहित्य के सम्यक विवेचन के बिना इन क्षेत्रों का अध्ययन अपूर्ण एवं अर्द्धपूर्ण होगा तो कोई अत्युक्ति न होगी। लोक साहित्य धर्मगाथादिकों के अध्ययन के लिए आधारशिला का कार्य करता है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में तो लोक साहित्य की महत्ता सर्वविदित है।

विश्व और मानव की रहस्यमय पहेली को सुलझाने के लिए, उसके प्राचीनतम रूपों की खोज के लिए और उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए जहाँ इतिहास के पृष्ट मूक हैं, शिलालेख और ताम्रपत्र मलीन हो गये हैं वहाँ उस तमसाच्छन्न स्थिति में लोक साहित्य ही दिशा निर्देश करता है। लोक साहित्य का गंभीर अध्ययन जीवन और जगत की मौलिक एवं प्राणणिक खोज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों को जानने का सबसे सरल, प्रामाणिक एवं रोचक साधन लोक साहित्य ही तो है। इस स्थल पर एक और बात भी विचारणीय है कि सभ्य कही जाने वाली जातियों के वास्तविकतावादी लेखकों की भाँति अनेक असंस्कृत जातियों के मौखिक साहित्य में भोग व लिप्सा की दुर्गन्ध नहीं है। इनके गीतों में जीवन की निकृष्ट दशा को छोड़ जीवन के रमणीय पक्ष का प्रदर्शन हुआ है।

1. ऐतिहासिक महत्व –किसी देश व समाज के प्राचीन रूप को झांक देख लेने का अनुपम साधन लोक साहित्य है। जब श्रावण मास में चंदन के रूख पर रेशम की डोर से झूला डालने की मांग हरियाणों की नवोढ़ा करती है, बटेऊ

(अतिथि, विशेषकर जामाता) के पधारने पर सोने की कराही में पूरियाँ उतारने की बात कही जाती है तो बरबस मन समाज के विगत वैभव विलास की ओर खिंच जाता है। भले ही ये समाज की आदर्श कल्पनाएँ रही हों किन्तु जन मानस में ये वस्तुएँ रही अवश्य हैं। चन्दरावल तथा अन्यान्य पतिपरायणा महिलाओं के आदर्श पतिव्रत को प्रदर्शित करने वाले गीत तथा कामांध यवनों के निरीह जनता के गृहस्थ जीवन को पंकिल करने वाले कारनामे किस इतिवृत्त से अधिक प्रभावशील नहीं हैं?

वर्णनात्मक दोहे जो ग्रामीण जनता के मुख में आसीन हैं बड़ी पते की बातें बतलाते हैं और पिछले इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। हरियाणा के विषय में गुरू गोरख नाथ के पर्यटन से सम्बन्धित यह दोहा–

'कंटक देश, कठोर नर, भैंस मूत्र को नीर।
करमां का मारा फिरे, बांगर बीच फकीर।

नाथ कालीन इस प्रदेश के इतिहास को अपने में समेटे हुए है। यह संस्कृत में प्राप्त उस वर्णन के प्रतिकूल है जहाँ हरियाणे को 'बहुधान्यकभूरू कहा गया है। इस स्थिति में पाठक एक विचिकित्सा में पड़ जाता है कि राजाश्रित किसी कवि की वह संस्कृतोक्ति सत्य है अथवा रमते राम बाबा गोरखनाथ की यह ठेठवाणी। सामयिक परिस्थिति एवं वातावरण को देखते हुए गोरख बाबा वाली बात ही यथार्थ बैठती है। ऐसे ही अन्य अनेक तत्त्व इतिहास की खोज में सहायक होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्य में यह कमी बतलाई है कि इसमें इतिहास विषयक सामग्री का एक तरह से अभाव है, परन्तु उनका यह आक्षेप शिष्ट और लोक साहित्य दोनों पर लागू नहीं होता। लोक मस्तिष्क ने अपने इतिहास की कड़ियाँ अपने गीतों में, अपनी कथाओं में जोड़ी हैं। लोकगाथाएँ तो एक रूप से इतिहास की प्रचुर सामग्री से समपन्न हैं। उनमें अतिरंजना भले ही हो किन्तु इतिहास के विद्यार्थी को कुछ ऐसे तथ्य अवश्य मिल जायेंगे जो प्रसिद्ध इतिहास लेखकों की दृष्टि से छूट गये हैं।

2. सामाजिक महत्व –लोक साहित्य का सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है। समाज-शास्त्र के समुचित अध्ययन के लिए लोक साहित्य की महत्ता सुविदित है। भारतीय समाज का ढांचा किस प्रकार का रहा है यह लोक-गीतों, लोककथाओं और लोकोक्तियों से भली-भांति समझ में आ जाता है। सास बहू का कटु संबंध, ननद भौजाई का वैमनस्य, विप्रयुक्ता तथा विधवा की दशा का

मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण वर्णन किसी लिखित रूप में उतना मार्मिक नहीं मिलेगा। भाई बहन के निरीह निश्छल कोमल प्रेम के उदाहरण क्या कल्हण की राजतरंगिणी, अष्टदश पुराण और टॉड राजस्थान आदि महान ग्रंथों में देखने को मिंलेगे? शिशु जन्म पर होने वाले सामाजिक कृत्यों के प्रति क्या इतिहास लेखकों का ध्यान कभी गया है? इन सबके समीचीन अध्ययन के लिए लोक साहित्य ही तो एक मात्र साधन है।

3. शिक्षा विषयक महत्व –ज्ञान एवं नीति की दृष्टि से यह साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। ग्रामों में चाहे स्कूल, कॉलेज एवं उच्च शिक्षा का समुचित प्रबंध न हो,चाहे ग्रामीण जनता को अक्षर ज्ञान की कोई सुविधा न हो परन्तु जनता के ज्ञान में बराबर वृद्धि होती रहती है। इस ज्ञान को ग्रामीण जनता आँखों द्वारा न लेकर कानों द्वारा ग्रहण करती है। इस प्रकार यह शिक्षा दिन और रात का प्रातः और मध्याह्न का, तथा संध्या व प्रदोषकाल का कोई ध्यान न कर सहज रूप में वायु ओर आकाश के पंखों पर चढ़ नारद की भांति जन-जन के द्वार पर अलख जगाती है। ग्राहक को इस शिक्षा के हृदयंगम करने के लिए किसी विशेष वातावरण एवं परिस्थिति की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रामों में मौखिक विश्वविद्यालय खुले हुए हैं। परस (चौपाल) और पूअर (अलाव) इस ज्ञान-वितरण के लिए बड़े उपयुक्त स्थल हैं। इन संस्थाओं में शिक्षा के अलग-अलग स्तर हैं जहाँ आबालवृद्ध को आयु के अनुसार शिक्षा मिलती है। शिक्षार्थी को समयानुसार सब चीजें सीखने को मिलेंगी। कोर्स (पाठ्यक्रम) आयु के अनुसार चलता है। बचपन में बाल सुलभ और बुढ़ापे में बृद्ध सुलभ।

इस शिक्षा वितरण के सर्वोत्तम साधन लोक-कथाएँ हैं। यों तो बालक की शिक्षा जननी की गोद में ही आरम्भ होती है। वहीं से वह चंदामामा, झूजू के म्याऊँ के, आटे बाटे के द्वारा कुछ सीखता चलता है। कैसा सुन्दर ढंग है, शिक्षा की शिक्षा और मनोविनोद का मनोविनोद। घर-घर में किंडर गार्टन और मांटेसरी शालाएँ लगी होती हैं। माता-पिता, भाई-बहन, दादी-दादा, अड़ोसी-पड़ोसी अबोध बालक की ज्ञान झोली में कोई न कोई रत्न बिना मांगे डालते रहते हैं। बालक कुछ बड़ा होता है तो दादी-नानी की घरेलू कहानियाँ बालक को हुंकारे के साथ कभी आश्यर्च, कभी उत्साह और कभी उदारता के पाठ पढ़ाती चलती हैं। इन कहानियों में बालक के लिए परिचित कुत्ता, बिल्ली, कौंआ, मोर, तोता, सारस, गीदड़ और लोमड़ी आदि पात्र जीवन की व्याख्या बालक की मातृभाषा

में करते चलते हैं। ये कहानियाँ श्रोता के सामाजिक व्यवहार का ज्ञान भी देती रहती हैं। इन ग्रामीण घरेलू कहानियों और पाठ्य-पुस्तकों में स्थान पाने वाली आधुनिक कहानियों में एक मौलिक अन्तर है। स्कूली कहानियों में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति लहरें लेती है जब कि घरेलू कहानियों का पट उन्हीं तन्तुओं से निर्मित है जो पूर्णतया भारतीय हैं। वही-श्एक राजा था। उसके सात छोरे थे और सात छोरियाँ थी आदि पूर्व परिचित बातें हैं।

बालिकाओं के दृष्टिकोण से देखें तो लोक साहित्य बड़ा उपयोगी मिलेगा। उनके लिए सामाजिक एवं कौटुम्बिक शिक्षा का समुचित प्रबन्ध यहाँ मिलता है। उदार जननी एवं सद्गृहस्थ बनना भारतीय पुत्रियों का प्रथम व पुरातन उद्देश्य रहा है। बालिकाएँ जीवन के आरम्भ से ही गुडियों के साथ खेल-खेलकर अपना मनोरंजन करती हैं और गृहस्थ के अनेक रहस्यों को अनायास सीख लेती हैं, समझ लेती हैं। कुछ सयानी होती हैं तो गीतों की दुनिया में पदार्पण करती हैं। यह संसार उन्हें पर्याप्त मात्रा में शिक्षित कर देता है। यहीं से उन्हें ऐसे असंख्य नुस्खे (योग) मिलते हैं जो भावी जीवन के लिए लाभप्रद एवं हितकर सिद्ध होते हैं। जिन बातों को ये गुड्डे-गुड़ियों के रूप में कहती सुनती है उन्हीं से अपने भावी जीवन की दिशा निर्धारित करती चलती हैं। डॉ. वैरियर एलविन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फोक्सांग्स् ऑफ कलल्सि में एक स्थान पर लोक गीतों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि-"इनका महत्व इसलिए नहीं है कि इनके संगीत, स्वरूप और विषय में जनता का वास्तविक जीवन प्रतिबिम्बित होता है, प्रत्युत इनमें मानवशास्त्र के अध्ययन की प्रामणिक एवं ठोस सामग्री हमें उपलब्ध होती है। डॉ. एलविन के मत में एक सार है, एक तथ्य है।

4. आचारिक महत्व –लोक में आचार का बड़ा महत्व है। लोक साहित्य में आचार संबंधी बातें यत्र-तत्र बिखरी मिलेंगी। यहाँ आचार संबंधी कितने ही अध्याय खुले पड़े हैं जिनमें एक लोकोत्तर नैतिक एवं आचारिक अवस्था का वर्णन है। सतीत्व का कितना ऊँचा आदर्श यहाँ उपलब्श होता है यह चन्दरावल के कथा-गीत से स्पष्ट है लोक साहित्य में जिन उच्चादर्शों का वर्णन है जिन लोकोत्तर चरित्रों की कल्पना है उनमें राम, कृष्ण, शिव और सीता राधा, पार्वती को नहीं भुला सकते। वे हमारे आचार के केन्द्र हैं। इन्हीं आदर्शों को अपनाकर भारत भारत रह सकता है।

5. भाषा वैज्ञानिक महत्व –यह सत्य बात है कि 'भाषा-शास्त्री के लिए शिष्ट साहित्यिक भाषाएँ उतनी उपयोगी नहीं है जितनी कि बोलचाल की भाषाएँ।

इसलिए लोक साहित्य लोक-भाषा की वस्तु हाने के कारण भाषा-वैज्ञानिकों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है यही वह धरातल है जहाँ पर भाषातत्त्ववेत्ता भाषा के परतों को उघाड़कर देखते हैं और गंभीर से गंभीर स्तरों में प्रवेश पाते हैं।

अर्थ परिवर्तन को समझने के लिए तथा शब्दों के इतिहास की खोज के लिए लोक साहित्य सर्वाधिक उपादेय है। पं. रामनरेश त्रिपाठी जी का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि 'आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता गाँव वाले हैं और उनका साहित्य इस भाषा को गढ़ने के लिए टकसाल का काम कर रहा है। संस्कृत के शब्द किस प्रकार साधारण जन के लिए उपयोग सुलभ हुए हैं यह सब इस टकसाल का ही परिणाम है। जब एक साधारण ग्रामीण किसी नई वस्तु या किसी नूतन प्राकृतिक व्यापार को देखता है तो उसे अपनी समझ से कोई न कोई नाम देना चाहता है। इसके लिए किसी पंडित व पुरोहित की अपेक्षा उसे नहीं होती। उसने साईकिल देखी। कभी नहीं सोचा कि यह अंग्रेजी अथवा ऐंग्लो-सेक्सन भाषा का शब्द है और उसके क्या मायने हैं। उसने देखा केवल एक नूतन व्यापार कि एक गाड़ी है और वह पैर से चलती है। अत: वह सहसा कह बैठा 'पैरगाड़ी यह एक साधारण शब्द है, लेकिन कितना सार्थक एवं उपयोगी है।

लोकमानस की शब्द निर्माण शक्ति की परख प्राय: क्रिया-विशेषण बनाने में सरलतया हो जाती है। जोर से गिरने के लिए 'धड़ाम से गिरा अधिक सार्थक एवं स्वत: बोधक है आदि। यदि हम किसी ग्रामीणजन को बोलता सुने तो हमें सहज ही ज्ञात हो जायेगा कि वह कितने ही ऐसे शब्द प्रयोग में लाता है जो भारतीय वातावरण में पनपे हैं यथा पौन (पवन) पौरख (पौरूष) वार (वारि) आदि ऐसे शब्द हैं जिनके अन्तस् में भारतीय वातावरण हिलोरें ले रहा है। एक सरल विवेचन से हम यह देख पायेंगे कि लोकभाषा शिष्ट भाषा से अधिक सम्पन्न और सरल भी बनेगी। हरियाणा लोक साहित्य का अध्ययन भी हिन्दी शब्दकोष की पर्याप्त अभिवृद्धि करेगा। इस बोली के उणियार (सदृश),ल्हास तथा दावें (पर्याप्त रूप से) आदि ऐसे शब्द हैं जो हिन्दी की भाव-प्रकाशिका को बढ़ायेंगे।

6. सांस्कृतिक महत्व -लोक साहित्य का सांस्कृतिक पक्ष बड़ा विशद है। विश्व की संस्कृतियाँ कैसे उद्भूत हुई, कैसे पनपी, इस रहस्य की कहानी अथवा इतिहास हमें लोक साहित्य के सम्यक् अध्ययन से मिलता है। संस्कृतियों के पुनीत इतिहास की परख अनेकांश में लोक साहित्य से संभव है। सच पूछा जाये तो लोक साहित्य ही संस्कृति का अमूल्य निधि है।

महात्मा गांधी के निम्नलिखित शब्द जिनमें लोक साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष की महत्ता प्रकट की गयी है, चिरस्मरणीय रहेंगे–'हाँ, लोकगीतों की प्रशंसा अवश्य करूँगा, क्योंकि मैं ं मानता हूँ कि लोकगीत समूची संस्कृति के पहरेदार होते हैं। गुजराती मनीषी काका कालेलकर ने लोक साहित्य के सांस्कृतिक पक्ष को इन शब्दों में व्यक्त किया है–'लोक साहित्य के अध्ययन से, उसके उद्धार से हम कृत्रिमता का कवच तोड़ सकेंगे और स्वाभाविकता की शुद्ध हवा में फिरने-डोलने की शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। स्वाभाविकता से ही आत्मशुद्धि संभव है अंत में यदि हम यह कहें कि लोक साहित्य जन-संस्कृति का दर्पण है तो अत्युक्ति न होगी।

संस्कृति की आधारशिला पुरातन होती है। इसके मूल तत्त्वों के संबंध में जो तत्त्व सबसे महत्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं, वह है विगत का प्रभाव। आज भी हमारा आदर्श हमारा अतीत है। झूला-झूलते, चाकी पीसते, यात्रा करते हमारे आदर्श राम-लक्ष्मण के पुण्य चरित्र ही हैं। यही लोक साहित्य का सांस्कृतिक पक्ष है।

लोक साहित्य की भाषा

खड़ी बोली

हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी अथवा केन्द्रीय हिन्दी-आर्यभाषा) की प्रधान पाँच विभाषाएँ हैं–खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बाँगरू और बुंदेली। आज खड़ी बोली राष्ट्र की भाषा है, साहित्य और व्यवहार सब में उसी का बोलबाला है, इसी से वह अनेक नामों और रूपों में भी देख पड़ती है। प्रायः लोग ब्रजभाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं में भेद दिखाने के लिये आधुनिक साहित्यिक हिन्दी को 'खड़ी बोली' कहते हैं। यह इसका सामान्य अर्थ है, पर इसका मूल अर्थ लें तो खड़ी बोली उस बोली को कहते हैं जो रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें यद्यपि फारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार अधिक होता है, पर वे शब्द तद्भव अथवा अर्धतत्सम होते हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में अब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। उस पर कुछ पंजाबी का भी प्रभाव दीख पड़ता है। ध्वनियों की दृष्टि से खड़ीबोली में परिसिष्ठ अथवा मानक हिन्दी

की लगभग सभी ध्वनियाँ मिलती हैं। इसमें भी स्वरों का उच्चारण अ, आ, इ, ई, उ, ऊ और ओ मानक हिन्दी की ही भाँति होता है। मानक हिन्दी के ए, औ का उच्चारण खड़ीबोली में ए, ओ, जैसा होता है जैसे पैर > पेर और > ओर आदि। सभी स्वरों के अनुनासिक रूप खड़ी बोली में पाए जाते हैं।

मानक हिन्दी की भांति ही खड़ी बोली में व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती है। खड़ी बोली में महाप्राण ध्वनियाँ प्राणत्व की दृष्टि से अल्प प्रावोच्चारी होती हैं। मानक हिंदी की ब,´ ध्वनियों का उच्चारण खड़ी बोली में देखने को मिलते हैं। खड़ी बोली में संयुक्त व्यंजन प्रायः शब्द मध्य ही मिलते हैं। यदि व्याकरण की दृष्टि से देखा जाए तो मानक हिन्दी, खड़ी बोली के साम्य है। संज्ञा और क्रियापद खड़ी बोली में प्रायः अकारान्त दिखाई दे जाते हैं। खड़ी बोली के परसर्गों में मिलते हैं–ने, नै, णें (कर्ता), को, कू, नै (कर्म), से, सै, सू (करण), के लिए, कू, णे, ने (सम्प्रदान) से, सु (अपादान), का, के, की (संबंध), में, पर, पै, उप्पर (अधिकरण)। सर्वनाम के खड़ी बोली में मूल रूप है–मैं, हम, तू, तुम, तम, ऊ, ओ, ओह, वे, ई, ए, यो, यू, येह, ये, आप, अपना, कौण, जो, जे, जाँण, कोई, कुछ, के, को तथा कारकीय रूप हैं–मुज, मुजै, म्हारा, मन्नै, तमारा, थारा, तुज, तुजै, विन, निन, वा, या आदि।

ऊँ हूँ, ए हैं, ए है, ए हो आदि वर्तमान में खड़ी बोली में क्रिया की दिशा में प्रमुख है। था, थे जैसे रूप भूतकालिक क्रियाओं में मिलते हैं। भविष्यत् कालीन क्रियाओं के रूप ऊँगा, आंगा, एंगे, आँगे, ऐगा, ओगे आदि प्रत्ययों के मूल धातु में जुड़ने से बनते हैं। क्रिया विशेषणों में इब, तिब, जिब, इमी, हॉ, जॉ, नू, क्यूँ आदि विशेष है।

उच्च हिन्दी

यह खड़ी बोली ही आजकल की हिन्दी, उर्दू और हिंदुस्तनी तीनों का मूलाधार है। जैसा हम कह चुके हैं, खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है, पर जब वह साहित्यिक रूप धारण करती है, तब कभी वह 'हिन्दी' कही जाती है और कभी 'उर्दू'। जिस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों का विशेष व्यवहार होता है, वह हिन्दी (अथवा यूरोपीय विद्वानों की उच्च हिन्दी) कही जाती है। इसी हिन्दी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है। पढ़े-लिखे हिंदू इसी का व्यवहार करते हैं। यह खड़ी बोली का साहित्यिक रूप हिन्दी के नाम से राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाया जा रहा है।

उर्दू

जब वह खड़ी बोली फ़ारसी-अरबी के तत्सम और अर्धतत्सम शब्दों को इतना अपना लेती है कि कभी-कभी उसकी वाक्य-रचना पर भी कुछ विदेशी रंग चढ़ जाता है तब उसे उर्दू कहते हैं। यही उर्दू भारत के मुसलमानों की साहित्यिक भाषा है। इस उर्दू के भी दो रूप देखे जाते हैं। एक दिल्ली, लखनऊ आदि की तत्सम बोली कठिन उर्दू और दूसरी हैदराबाद की सरल दक्खिनी उर्दू (अथवा हिन्दुस्तानी)। इस प्रकार भाषा वैज्ञानिक दृष्टि में हिन्दी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप मात्र है।। एक का ढाँचा भारतीय परंपरागत प्राप्त है और दूसरी को फ़ारसी का आधार बना कर विकसित किया जा रहा है।

हिन्दुस्तानी

खड़ी बोली का एक रूप होता है जिसे न तो शुद्ध साहित्यिक ही कह सकते हैं और न ठेठ बोलचाल की बोली ही कह सकते हैं। वह है हिन्दुस्तानी, जो विशाल हिन्दी प्रान्तों के लोगों की परिमार्जित बोली है। इसमें तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है, पर नित्य व्यवहार के शब्द देशी-विदेशी सभी काम में आते हैं। संस्कृत, फ़ारसी, अरबी के अतिरिक्त अँग्रेजी ने भी हिन्दुस्तानी में स्थान पा लिया है। इसी से एक विद्वान् ने लिखा है कि ''पुरानी हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी के मिश्रण से जो एक नई जबान आप से आप बन गई है, वह हिन्दुस्तानी के नाम से मशहूर है।'' यह उद्धरण भी हिन्दुस्तानी का अच्छा नमूना है। यह भाषा अभी तक बोलचाल की बोली ही है। इसमें कोई साहित्य नहीं है। किस्से, गजल, भजन आदि की भाषा को, यदि चाहें तो हिन्दुस्तानी का ही एक रूप कह सकते हैं। आजकल कुछ लोग हिन्दुस्तानी को साहित्य की भाषा बनाने का यत्न कर रहे हैं पर वर्तमान अवस्था में वह राष्ट्रीय बोली ही कही जा सकती है। उसकी उत्पत्ति का कारण भी परस्पर विनिमय की इच्छा ही है। जिस प्रकार उर्दू के रूप में खड़ी बोली ने मुसलमानों की माँग पूरी की है, उसी प्रकार अँग्रेज़ी शासन और शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये हिन्दुस्तानी चेष्टा कर रही है। वास्तव में 'हिन्दुस्तानी' नाम के जन्मदाता अँग्रेज़ अफसर हैं। वे जिस साधारण बोली में साधारण लोगों से, साधारण पढ़े और बे-पढ़े दोनों ढंग के लोगों से बातचीत और व्यवहार

करते थे उसे हिन्दुस्तानी कहने लगे। जब हिन्दी और उर्दू साहित्य-सेवा में विशेष रूप से लग गई तब जो बोली जनता में बची रही है, उसे हिन्दुस्तानी कहा जाने लगा। यदि हम चाहें तो हिन्दुस्तानी को चाहे हिन्दी को, चाहे उर्दू को बोलचाल का रूप कह सकते हैं। अतः हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी तीनों ही खड़ी बोली के रूपान्तर मात्रा है। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रों में खड़ी बोली का अधिक प्रयोग एक प्रान्तीय बोली के अर्थ में ही होता है।

ब्रजभाषा

ब्रजभाषा मूलतः ब्रजक्षेत्र की बोली है। विक्रम की 13वीं शताब्दी से लेकर 20वीं शताब्दी तक भारत में साहित्यिक भाषा रहने के कारण ब्रज की इस जनपदीय बोली ने अपने विकास के साथ भाषा नाम प्राप्त किया और ब्रजभाषा नाम से जानी जाने लगी। शुद्ध रूप में यह आज भी मथुरा, आगरा, धौलपुर और अलीगढ़ जिलों में बोली जाती है। इसे हम केंद्रीय ब्रजभाषा भी कह सकते हैं। प्रारम्भ में ब्रजभाषा में ही काव्य रचना हुई। भक्तिकाल के कवियों ने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही लिखी हैं, जिनमें सूरदास, रहीम, रसखान, बिहारी लाल, केशव, घनानन्द आदि कवि प्रमुख हैं। हिन्दी फिल्मों और फिल्मी गीतों में भी ब्रजभाषा के शब्दों का बहुत प्रयोग होता है। आधुनिक ब्रजभाषा लगभग 1 करोड़ 23 लाख जनता के द्वारा बोली जाती है और लगभग 38,000 वर्गमील के क्षेत्र में फैली हुई है।ब्रजमंडल में बोली जाने वाली भाषा को ब्रजभाषा कहा जाता है। वैसे तो ब्रजमंडल 84 कोस का बताया जाता है परंतु भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो बुलंदशहर, एटा, मैनपुरी, गंगापार, बुंदायुँ, बरेली और नैनीताल की तराई के प्रदेशों में ब्रजभाषा बोली जाती है। यह भाषा लगभग 1 करोड़ 30 लाख लोगों द्वारा बोली जाती है। अपनी अभिव्यंजनाशक्ति और ध्वनिमाधुर्य के कारण इस बोली का अपना विशिष्ट स्थान है। सूरदास, मीरा, रहीम, रसखान, तुलसीदास आदि इसके प्रमुख कवि रहे हैं।

मानक हिंदी को लगभग सभी प्रकार की ध्वनियाँ ब्रजभाषा में मिलती है। संज्ञा विशेषण, क्रियापद (एकवचन) प्रायः ओकारांत होते हैं, (जैसे–झगरो, बसेरो, मीठो, देबो आदि)। कुछ शब्द इकारांत एवं उकारांत भी होते हैं, (जैसे–बागु, आमु, चलतु, करि, किमि, दूरि आदि)। खड़ी बोली के शब्दों में प्रयुक्त अन्य ए, ओ, के स्थान पर क्रमशः ऐ, औ ध्वनियाँ प्रयुक्त मिलती हैं। स्वर

संयोग प्राय: खड़ी बोली जैसे मिलते हैं। ब्रजभाषा में अल्प प्राणीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है। ब्रजभाषा में 'ण' ध्वनि का प्रयोग लभभग नहीं के बराबर ही होता है। श, ष के स्थान पर 'स' का ही प्रयोग देखा जाता है। ऋ का प्रयोग स्वर के रूप में नहीं होता। ल के स्थान पर र ध्वनि प्रयुक्त होती है जैसे झगड़ > झगरो, पीला > पीरो। न, म, र, ल के महाप्राण रूप भी मिलते हैं। व्यंजन संयोग की परिभाषा में स्वरभक्ति का प्रयोग अधिक मिलता है।

ब्रजभाषा के परसर्गों में हैं, ने, नें, नै, नैं (कर्ता), को, कु, कुँ, कौ, कौं (कर्म संप्रदान), सों, सौं ते, तें, (करण-अपा.) को, कौ, की, के (संबंध), पै, माहि, परि (अधि.)।

मै, हम, हूँ, हौं, तू, तूँ, तें, तैं, तुम, जो, जे, सो कौन, को, कहा, कोई, कोऊ, कछू, कछुक तथा विकृत रूप हैं मो, मौं, तो, तुम, मेरो, हमारो, तेरो, तिहारो, वा, या, जा, काऊ, काहू, का कौन आदि ब्रजभाषा के सर्वनामों के मूल रूप हैं। भई, भये, भो, भयो, भयौं, हे, हते, हुते, ते, हो, हतो, हुतौ, तो, ही, हतीं, तीं आदि ब्रजभाषा की भूतकालीन सहायक क्रियाएँ हैं। ह्वैहै, ह्वैहैं भविष्यत्कानील निश्चयार्थ के विशिष्ट रूप हैं। भविष्यत् काल के रूप ब्रजभाषा में साधारणतया धातु में औगो, ऐंगे, औंगे, ऐंगों, इहैं, इहौं, इहौ आदि प्रत्ययों के जुड़ने से प्राप्त होते हैं।

इहाँ, हियाँ, हुआँ, उतै, कितै, तितै, अबै, जबै, तबै, जिमि, किमि आदि व्रजभाषा के विशेष अव्यय हैं।

बुंदेली

उत्तर प्रदेश स्थित बाँदा के पश्चिमी भाग, हमीरपुर, उरई-जालौन तथा झाँसी जिलों एवं मध्यप्रदेश के ग्वालियर (पूर्वी भाग), ओरछा, पन्ना, दतिया, चरखारी, सागर, टीकमगढ़, दमोह, नृसिंहपुर, सिउनी, छिंदवाड़ा, होशंगाबाद, भोपाल के कुछ भाग और बालाघाट जिलों में बोली जाने वाली भाषा को बुंदेलखण्डी कहा जाता है। बुंदेली क्षेत्र के दक्षिण में मराठी, उत्तर में कन्नौजी-ब्रज, पूर्व में अवधी-बघेली और पश्चिम में राजस्थानी, ब्रज बोलियों के क्षेत्र हैं। बुदेंली की पँवारी, राठौरी, लोधांती, खटोला, बनाफरी, कुंडी, निभाट्टा, भदावरी, तोवँरगढ़ी आदि बारह ऐसी उपबोलियाँ है, जो बुंदेलखंड के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों द्वारा बोली जाती हैं। बुंदेला राजाओं के राज्य को बुंदेलखंड कहा गया है।

आज बुंदेला राजा तो राजा नहीं रहे, पर उनसे संबद्ध राज्य की भाषा बुंदेलखंडी जिलों से बाहर आज भी प्रचलन में हैं।

मानक हिन्दी की लगभग सभी ध्वनियाँ बुंदेली में पायी जाती हैं। बुंदेली शब्दों में अत्यंत अल्पप्राणता की प्रवृत्ति बहुत अधिक देखने को मिलती है। मध्यग 'र' का प्रायः लोप मिलता है, यथा सारे। साये, तुम्हारा। तुमाओ आदि। मानक हिंदी शब्दों में प्रयुक्त ल के स्थान पर बुंदेली में 'र' ध्वनि प्रयुक्त मिलती है। पुंल्लिंग एकवचन शब्द प्रायः ओकारांत ही होते हैं।

कन्नौजी

हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, इटावा, पश्चिमी कानपुर और फर्रुखाबाद आदि की सामान्य बोलचाल में पायी जाने वाली भाषा कन्नौजी भाषा कहलाती है। इसका मुख्य केन्द्र फर्रुखाबाद जिले का इतिहास प्रसिद्ध नगर कन्नौज (कान्यकुब्ज) है। कन्नौज के आधार पर ही इस बोली का नाम कन्नौजी रखा गया है। ब्रजभाषा और कन्नौजी बहुत-कुछ एक-दूसरे से मेल खाती हैं। कन्नौजी भाषा वर्तमान में भी लगभग 45 लाख लोगों द्वारा बोली जाती हैं।

अल्पप्राणीकरण की प्रवृत्ति के साथ-साथ पश्चिमी हिंदी की सभी बोलियों की अपेक्षा महाप्राणीकरण की प्रवृत्ति इसमें सर्वाधिक है। 'ण' ध्वनि का प्रयोग इसमें नहीं किया जाता है। मानक हिंदी की ल और ड़ ध्वनियों के स्थान पर 'र' ध्वनि का अधिक प्रयोग देखने को मिलता है। ऐ, औ की अपेक्षा अंत्य ए, ओ का प्रयोग इसमें अधिक मिलता है। स्त्री प्रत्यय प्रायः अवधी और ब्रज के समान हैं। परसर्गों में नें, ने, नै (कर्ता), कउ, को, काँ, का (कर्म), से, सें, सेती, सन, तें, ते, (करण-अपा.), के खातिर, के मारै (संप्रदान), का, के, की, कर, (संबंध), में, मैं, माँ, महँ, मइहाँ, पर, पै (अधि.) प्रयुक्त होते हैं। विशेष शब्द प्रायः ओकारांत होते हैं।

बाँगरू

दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा और झींद के ग्रामीण क्षेत्रों की सामान्य बोलचाल की भाषा बाँगरू भाषा के नाम से जानी जाती है। बाँगरू को जाटू या हरियाणी भी कहते हैं। करनाल के आस-पास के क्षेत्र को बाँगर कहा जाता है। इस बोली का प्रमुख क्षेत्र बाँगर होने के कारण ही इसे बाँगरू कहा जाता है। बाँगर दक्षिण-पश्चिम का विस्तृत भूभाग हरियाणा है इसलिए हरियाणा के नाम पर इसे हरियाणी भी कहा जाता है। इस प्रदेश के निवासी अधिकतर जाट हैं, इसलिए उनकी

बोली को जाटू कहा जाता है। वर्तमान समय में इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 35 लाख है।

बाँगरू में खड़ीबोली की लगभग सभी ध्वनियाँ विद्यमान हैं। दीर्घस्वरों के अतिरिक्त अनतिदीर्घस्वर भी देखे जाते हैं जैसे, आम, आट्टा। बाँगरू शब्दों में आदि स्वरलोप की प्रवत्ति बहुतायत से मिलती है, यथा–अठारह > ठारह। महाप्राणीकरण और अल्पप्राणीकरण की प्रवत्तियाँ इसमें पाई जाती हैं।

बाँगरू में संज्ञा से तिर्यक् बहुवचन के रूप प्रायः आकारांत मिलते हैं, जैसे घराँ का, छोहरियाँ नै आदि। विशेषण, क्रियापद और परसर्ग प्रायः खड़ीबोली के समान हैं।

मध्यवर्ती भाषाएँ

इसे मध्यवर्ती भाषा का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि ये भाषाएँ मध्यदेशी भाषा और बहिरंग भाषाओं के बीच की कड़ी हैं। इनमें दोनों प्रकार के लक्षण देखने को मिलते हैं। मध्यदेश के पश्चिम की भाषाओं में मध्यदेशी के अधिक लक्षण देखे जाते हैं पर उसके पूर्व की 'पूर्वी हिंदी' में बहिरंग वर्ग के इतने अधिक लक्षण मिलते हैं कि उस बहिरंग वर्ग की ही भाषा कहा जा सकता है।

जैसे पीछे तीसरे ढंग के वर्गीकरण में साफ बताया गया है, ये मध्यवर्ती भाषाएँ सात हैं–पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी पहाड़ी, केंद्रीय पहाड़ी, पश्चिमी पहाड़ी और पूर्वी हिंदी। ये सातों भाषाएँ हिंदी की मध्यदेश की भाषा को घेरे हुए हैं। साहित्यिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ये स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। इनमें पहली छः में मध्यदेशी लक्षण अधिक मिलते हैं।

पंजाबी

पूरे पंजाब प्रांत द्वारा बोली जाने वाली भाषा पंजाबी भाषा कहलाती हैं, इसी से कई लेखक पश्चिम पंजाबी और पूर्वी पंजाबी दो भेद करते हैं, पर भाषाशास्त्रियों के अनुसार पूर्वी पंजाबी ही पंजाबी भाषा कहलाती हैं। अतः हम भी पंजाबी का इसी अर्थ में व्यवहार करेंगे। पश्चिमी पंजाबी को लहँदा कहते हैं (जो अब पाकिस्तानी क्षेत्र के अंतर्गत है)। अमृतसर के आस-पास की भाषा शुद्ध पंजाबी मानी जाती है। यद्यपि स्थानीय बोलियों में भेद मिलता है पर सच्ची विभाषा डोग्री ही है। जंबू रियासत और काँगड़ा जिले में डोग्री बोली का प्रचलन

है। इसकी लिपि तक्करी अथवा टकरी है। टक्क जाति से इसका संबंध जोड़ा जाता है। पंजाबी में थोड़ा साहित्य भी है। पंजाबी ही एक ऐसी भाषा के रूप में देखी जाती है जिसमें संस्कृत और फारसी शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता है। इस भाषा में वैदिक संस्कृत-सुलभ रस और सुंदर पुरुषत्व देख पड़ता है। इस भाषा में इनके बोलने वाले बलिष्ठ और कठोर किसानों की कठोरता और सादगी मिलती है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि पंजाबी ही एक ऐसी आधुनिक हिंदी आर्य भाषा है जिसमें वैदिक अथवा तिब्बत-चीनी भाषा के स्वर विद्यमान है।

राजस्थानी और गुजराती

पंजाबी के दक्षिण में राजस्थानी है। जिस प्रकार हिन्दी का उत्तर-पश्चिम की ओर फैला हुआ रूप पंजाबी है, उसी प्रकार हिन्दी का दक्षिण-पश्चिमी विस्तार राजस्थानी है। इसी विस्तार का अन्तिम भाग गुजराती है। राजस्थानी और गुजराती वास्तव में इतनी परस्पर संबद्ध है कि दोनों को एक ही भाषा की दो विभाषाएँ मानना भी अनुचित न होंगा। पर आजकल ये दो स्वतंत्र भाषाएँ मानी जाती हैं। दोनों में स्वतंत्र सहित्य की भी रचना हो रही है। राजस्थानी की मेवाती, मालवी, मारवाड़ी और जयपुरी आदि अनेक विभाषाएँ हैं, पर गुजराती में कोई निश्चित विभाषाएँ नहीं हैं। उत्तर और दक्षिण की गुजराती की बोली में थोड़ा स्थानीय भेद पाया जाता है।

पहाड़ी

मारवाड़ी और जयपुरी से मिलती-जुलती पहाड़ी भाषाएँ हिन्दी के उत्तर में मिलती हैं। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है, इसी से नेपाली भी कही जाती है। इसे ही परबतिया अथवा खसरा भी कहते हैं। यह नागरी अक्षरों में लिखी जाती है। इसका साहित्य सर्वथा आधुनिक है। केन्द्रवर्ती पहाड़ी गढ़वाल रियासत तथा कुमाऊँ और गढ़वाल जिलों में बोली जाती है। इसकी दो विभाषाएँ हैं–कुमाउँनी और गढ़वाली। इस भाषा में भी कुछ पुस्तकें थोड़े दिनों पहले लिखी गई हैं। यह भी नागरी अक्षरों में लिखी जाती हैं। पश्चिमी पहाड़ी बहुत सी पहाड़ी बोलियों के समूह का नाम हैं उसकी कोई प्रधान विभाषा नहीं है और न उसमें कोई उल्लेखनीय साहित्य है। कुछ ग्राम-गीत भर मिलते हैं। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हैं। संयुक्त प्रान्त के जौनसारबावर से लेकर पंजाब प्रान्त में सिरमौर रियासत, शिमला पहाड़ी, कुड़ली, मण्डी, चंबा होते हुए पश्चिम में काश्मीर की भदरवार जागीर तक पश्चिमी पहाड़ी बोलियाँ फैली हुई हैं। इसमें

जौनसारी, कुड़ली, चँबाली आदि अनेक विभाषाएँ हैं। ये टकरी अथवा तक्करी लिपि में लिखी जाती हैं।

पूर्वी हिन्दी

इसे हिन्दी का पूर्वी विस्तार कह सकते हैं, पर इस भाषा में इतने बहिरंग भाषाओं के लक्षण मिलते हैं कि इसे अर्ध-बिहारी भी कहा जा सकता है। यही एक ऐसी मध्यवर्ती भाषा है जिसमें बहिरंग भाषाओं के अधिक लक्षण मिलते हैं।यह हिन्दी और बिहारी के मध्य की भाषा है। इसकी तीन विभाषाएँ हैं–अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी।

बहिरंग भाषाएँ

इनका सबसे बड़ा भेद यह है कि मध्यदेश की भाषा अर्थात् हिन्दी की अपेक्षा ये सब अधिक संहिति-प्रधान हैं। हिन्दी की रचना सर्वथा व्यवहित है, पर इन बहिरंग भाषाओं में संहित रचना भी मिलती है।वे व्यवहिति से संहित की ओर जा रही हैं। मध्यवर्ती भाषाओं में केवल पूर्वी हिन्दी कुछ संहित पाई जाती है।

लहँदा

यह पश्चिम पंजाब की भाषा है, इसी से कुछ लोग इसे पश्चिमी पंजाबी भी कहा करते हैं। यह जटकी, अच्छी, हिंदकी, डिलाही आदि नामों से पुकारी जाती है। कुछ विद्वान् इसे लहँदी भी कहते हैं लहँदा एक नया नाम ही चल पड़ा है, अब उसमें उस अर्थ के द्योतन की शक्ति आ गई है।

लहँदा की चार विभाषाएँ हैं–(1) एक केन्द्रीय लहँदा जो नमक की पहाड़ी के दक्षिण प्रदेश में बोली जाती है और जो टकसाली मानी जाती है, (2) दूसरी दक्षिण अथवा मुल्तानी जो मुल्तान के आस-पास बोली जाती है, (3) तीसरी उत्तर-पूर्वी अथवा पौठवारी और (4) चौथी उत्तर-पश्चिमी अर्थात् धन्नी। यह उत्तर में हजारा जिले तक पाई जाती है। लहँदा में साधारण गीतों के अतिरिक्त कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लण्डा है।

सिन्धी

सिंधी शब्द सिंध के विशेषण के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसलिये सिंधी का अर्थ सिंध में रहने वाले या वहाँ से संबंध रखने वाले लोगों से भी

लगाया जाता है और सिंधी भाषा से भी।यह दूसर बहिरंग भाषा है और सिन्ध नदी के दोनों तटों पर बसे हुए सिन्ध देश की बोली है। इसमें पाँच विभाषाएँ हैं–बिचोली, सिरैकी, लारी, थरेली और कच्छी। बिचोली मध्य सिन्ध की टकसाली भाषा है। सिन्धी के उत्तर में लहँदा, दक्षिण में गुजराती और पूर्व में राजस्थानी है। सिन्धी का भी साहित्य छोटा सा है। इसकी भी लिपि लण्डा है, पर गुरुमुखी और नागरी का भी प्रायः व्यवहार होता है।

2

लोक नाट्य

लोकनाट्यों का लोकजीवन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। यही कारण है कि लोक से संबंधित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिनय किया जाता है। विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में यह प्रथा है कि स्त्रियाँ बारात विदा हो जाने पर किसी 'स्वाँग' या 'साँग' का अभिनय प्रस्तुत करती हैं जिसे 'भोजपुरी' प्रदेश में 'डोमकछ' कहते हैं।

लोकनाट्यों की भाषा बड़ी सरल तथा सीधी सादी होती है जिसे कोई भी अनपढ़ व्यक्ति बड़ी आसानी से समझ सकता है। जिस प्रदेश में लोकनाट्यों का अभिनय किया जाता है, नट लोग वहाँ की स्थानीय बोली का ही प्रयोग करते हैं। ये लोग अभिनय के समय गद्य का ही प्रयोग करते हैं। परंतु बीच-बीच में गीत भी गाते जाते हैं। लोकनाट्यों के संवाद बहुत छोटे तथा सरस होते हैं। लंबे कथोपकथनों का इनमें नितांत अभाव होता है। लंबे संवादों को सुनने के लिए ग्रामीण दर्शकों में धैर्य नहीं होता। अत: नाटकीय पात्र संक्षिप्त संवादों का ही प्रयोग करते हैं।

लोकनाट्यों का कथानक प्राय: ऐतिहासिक, पौराणिक, या सामाजिक होता है। धार्मिक कथावस्तु को लेकर भी अनेक नाटक खेले जाते हैं। बंगाल के लोकनाट्य 'जात्र' और 'कीर्तन' का आधार धार्मिक आख्यान होता है। राजस्थान में अमरसिंह राठौर की ऐतिहासिक गाथा का अभिनय किया जाता है। केरल प्रदेश में प्रचलित 'यक्षगान' नामक लोकनाट्य का कथानक प्राय: पौराणिक होता है।

उत्तरप्रदेश की रामलीला और रासलीला की पृष्ठभूमि धार्मिक है। नौटंकी और स्वाँग की कथावस्तु समाज से अधिक संबंध रखती है।

लोकनाट्यों में प्रायः पुरुष ही स्त्री पात्रों का कार्य किया करते हैं परंतु व्यवसायी नाटक मंडलियाँ साधारण जनता को आकृष्ट करने के लिए सुंदर लड़कियों का भी इस कार्य के लिए उपयोग करती हैं। लोकनाट्यों के पात्र अपनी वेशभूषा की अपेक्षा अपने अभिनय द्वारा ही लोगों को आकृष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इन नाटकों के अभिनय में किसी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार या बहुमूल्य वस्त्र आदि की आवश्यकता नहीं होती। कोयला, काजल, खड़िया आदि देशी प्रसाधनों से मुख को प्रसाधित कर तथा उपयुक्त वेशभूषा धारण कर पात्र रंगमंच पर आते हैं। कुछ पात्र प्रसाधन के लिए अब पाउडर और क्रीम का भी प्रयोग करने लगे हैं।

लोकनाट्य खुले हुए रंगमंच पर खेले जाते हैं। दर्शकगण मैदान में आकाश के नीचे बैठकर नाटक का अभिनय देखते हैं। किसी मंदिर के सामने का ऊँचा चबूतरा या ऊँचा टीला ही रंगमंच के लिए प्रयुक्त किया जाता है। कहीं कहीं काठ के ऊँचे तख्तों को बिछाकर मंच तैयार किया जाता है। इन रंगमंचों पर परदे नहीं होते। अतः किसी दृश्य की समाप्ति पर कोई परदा नहीं गिरता। नाटक के पात्रगण किस पेड़ या दीवाल की आड़ में बैठकर अपना प्रसाधन किया करते हैं, जो उनके लिए 'ग्रीनरूप' का काम करता है। नाटक की गिनती काव्यों में है। काव्य दो प्रकार के माने गये हैं–श्रव्य और दृश्य। इसी दृश्य काव्य का एक भेद नाटक माना गया है। पर दृष्टि द्वारा मुख्य रूप से इसका ग्रहण होने के कारण दृश्य काव्य प्रदर्शन को नाटक कहने लगे हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस विषय का सबसे प्राचीन ग्रंथ मिलता है। अग्निपुराण में भी नाटक के लक्षण आदि का निरूपण है। उसमें एक प्रकार के काव्य का नाम प्रकीर्ण कहा गया है। इस प्रकीर्ण के दो भेद है–काव्य और अभिनेय। अग्निपुराण में दृश्य काव्य या रूपक के 27 भेद कहे गए हैं–

नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक, त्रोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीशक, काव्य, श्रीनिगदित, नाटयरासक, रासक, उल्लाप्यक और प्रेक्षण।

साहित्यदर्पण में नाटक के लक्षण, भेद आदि अधिक स्पष्ट रूप से दिए हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि दृश्य काव्य के एक भेद का नाम नाटक है। दृश्य काव्य के मुख्य दो विभाग हैं–रूपक और उपरूपक। रूपक के दस भेद हैं–पक, नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, ड़िम, ईहामृग, अंकवीथी और प्रहसन। उपरूपक' के अठारह भेद हैंकृ नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाटयरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेक्षणा, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिंपक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीशा और भणिका।

उपर्युक्त भेदों के अनुसार नाटक शब्द दृश्य काव्य मात्र के अर्थ में बोलते हैं। साहित्यदर्पण के अनुसार नाटक किसी ख्यात वृत्त (प्रसिद्ध आख्यान, कल्पित नहीं)' की लेकर लिखना चाहिए। वह बहुत प्रकार के विलास, सुख, दुःख, तथा अनेक रसों से युक्त होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होने चाहिए। नाटक का नायक धीरोदात्त तथा प्रख्यात वंश का कोई प्रतापी पुरुष या राजर्षि होना चाहिए। नाटक के प्रधान या अंगी रसश्रृंगार और वीर हैं। शेष रस गौण रूप से आते हैं। शांति, करुणा आदि जिस रुपक में प्रथान हो वह नाटक नहीं कहला सकता। संधिस्थल में कोई विस्मयजनक व्यापार होना चाहिए। उपसंहार में मंगल ही दिखाया जाना चाहिए। वियोगांत नाटक संस्कृत अलंकार शास्त्र के विरुद्ध है।

नाटक

नाटक, काव्य और गद्य का एक रूप है जो रचना श्रवण द्वारा ही नहीं अपितु दृष्टि द्वारा भी दर्शकों के हृदय में रसानुभूति कराती है उसे नाटक या दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक में श्रव्य काव्य से अधिक रमणीयता होती है। श्रव्य काव्य होने के कारण यह लोक चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। नाट्यशास्त्र में लोक चेतना को नाटक के लेखन और मंचन की मूल प्रेरणा माना गया है।भारत में नाटक साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसकी लम्बी परम्परा पाई जाती है। भारत में ही नाट्यशस्त्र के रचना सबसे पहले हुई थी। यहाँ नाट्यशस्त्र की अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने नाटक पर बड़े विस्तार और गम्भीरता से इस विधा पर विचार किया है। इन में भरत, धनंजय, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, अभिनव गुप्त, विश्वनाथ आदि के नाम अधिक प्रसिद्ध है। नाटक की परिभाषा–आचार्य धनंजय ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार बताई है–अवस्था की अनुकृति नाटक है, यह परिभाषा सातर्क है, व्यावहारिक और उपयोगी है। नाटक अनुकरण तत्त्व की प्रधानता है, साहित्य की सभी विधाओं में नाटक की वह विधा है, जिसमे अनुकरण पर सर्वधिक बल दिया गया है। लेकिन यहाँ सवाल

उठता है अनुकरण किसका हो, इसका उत्तर है, कार्य तथा मानवीय जीवन के क्रियाशील कार्यों का मनुष्य अनेक परिस्थितियों से हर क्षण गुजरता है। उनकी भिन्न –भिन्न अवस्थाएँ होती है। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में रहने के कारण उनके जीवन रंगमंच पर अनेक दृश्य अनेक स्थितियाँ आते जाते रहते है। नाटककार नाटक की रचना करते समय इन्हीं स्थितियों का अनुकरण करता है। नाटक का स्वरूप–नाटक में जीवन का यथार्थमूल्य अनुकरण होते हुए भी नाटककार कल्पना भी करता है। यदि कल्पना नाटक को साहित्य की विधा प्रदान करती है, इसलिए नाटक एक ऐसी कला है, जिसमे अनुकरण और कल्पना दोनो का योग रहता है। इसका उद्देश्य पहले शिक्षण और मनोरंजन था लेकिन अब इसका लक्ष्य जीवन की विभिन्न समस्याओं का उदघाटक करना, और मानवीय सवेंदनाओं को प्रकाश में लाना है। यही कारण है कि प्राचीन काल के नाटकों से आज के नाटक बिल्कुल भिन्न पाए जाते हैं।

नाटक के तत्त्व

कथावस्तु

कथावस्तु को 'नाटक' ही कहा जाता है अंग्रेजी में इसे 'प्लॉट' की संज्ञा दी जाती है जिसका अर्थ आधार या भूमि है। कथा तो सभी प्रबंध का प्रबंधात्मक रचनाओं की रीढ़ होती है और नाटक भी क्योंकि प्रबंधात्मक रचना है इसलिए कथानक इसका अनिवार्य अंग है। भारतीय आचार्यों ने नाटक में तीन प्रकार की कथाओं का निर्धारण किया है –1 प्रख्यात 2 उत्पाद्य 3 मिस्र प्रख्यात कथा।

प्रख्यात कथा

प्रख्यात कथा इतिहास, पुराण से प्राप्त होती है। जब उत्पाद्य कथा कल्पना पराश्रित होती है, मिश्र कथा कहलाती है। इतिहास और कथा दोनों का योग रहता है। इन कथा आधारों के बाद नाटक कथा को मुख्य तथा गौण अथवा प्रासंगिक भेदों में बांटा जाता है, इनमें से प्रासंगिक के भी आगे पताका और प्रकरी है। पताका प्रासंगिक कथावस्तु मुख्य कथा के साथ अंत तक चलती है जब प्रकरी बीच में ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त नाटक की कथा के विकास हेतु कार्य व्यापार की पांच अवस्थाएं प्रारंभ प्रयत्न, परपर्याशा नियताप्ति और कलागम होती है। इसके अतिरिक्त नाटक में पांच संधियों का प्रयोग भी किया

जाता है। वास्तव में नाटक को अपनी कथावस्तु की योजना में पात्रों और घटनाओं में इस रुप में संगति बैठानी होती है कि पात्र कार्य व्यापार को अच्छे ढंग से अभिव्यक्त कर सके। नाटककार को ऐसे प्रसंग कथा में नहीं रखनी चाहिए जो मंच के संयोग न हो यदि कुछ प्रसंग बहुत आवश्यक है तो नाटककार को उसकी सूचना कथा में दे देनी चाहिए। नाटक की कथावस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक या सामाजिक हो सकती है।

पात्र

नाटक में अपने विचारों, भावों आदि का प्रतिपादन पात्रों के माध्यम से ही करना होता है। अत: नाटक में पात्रों का विशेष स्थान होता है। प्रमुख पात्र अथवा नायक कला का अधिकारी होता है तथा समाज को उचित दशा तक ले जाने वाला होता है। भारतीय परंपरा के अनुसार वह विनयी, सुंदर, शालीनवान, त्यागी, उच्च कुलीन होना चाहिए। किंतु आज नाटकों में किसान, मजदूर आदि कोई भी पात्र हो सकता है। पात्रों के संदर्भ में नाटककार को केवल उन्हीं पात्रों की सृष्टि करनी चाहिए जो घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा नाटक के चरित्र पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं। पात्रों का सजीव और प्रभावशाली चरित्र ही नाटक की जान होता है। कथावस्तु के अनुरूप नायक धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शांत या धीरोद्धत हो सकता है।

उद्देश्य

समाज के हृदय में रक्त का संचार करना ही नाटक का उद्देश्य होता है। नाटक के अन्य तत्त्व इस उद्देश्य के साधन मात्र होते हैं। भारतीय दृष्टिकोण सदा आशावादी रहा है इसलिए संस्कृत के प्राय: सभी नाटक सुखांत रहे हैं। पश्चिम नाटककारों ने या साहित्यकारों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हुए उसके प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया है उसके प्रभाव से हमारे यहां भी कई नाटक दुखांत में लिखे गए हैं, किंतु सत्य है कि उदास पात्रों के दुखांत अंत से मन खिन्न हो जाता है। अत: दुखांत नाटको का प्रचार कम होना चाहिए।

भाषा शैली

नाटक सर्वसाधारण की वस्तु है अत: उसकी भाषा शैली सरल, स्पष्ट और सुबोध होनी चाहिए, जिससे नाटक में प्रभाविकता का समावेश हो सके तथा

दर्शक को क्लिष्ट भाषा के कारण बौद्धिक श्रम न करना पड़े अन्यथा रस की अनुभूति में बाधा पहुंचेगी। अत: नाटक की भाषा सरल व स्पष्ट रूप में प्रवाहित होनी चाहिए।

देशकाल वातावरण

देशकाल वातावरण के चित्रण में नाटककार को युग अनुरूप विशेष सतर्क रहना आवश्यक होता है। पश्चिमी नाटक में देशकाल के अंतर्गत संकलन समय स्थान और कार्य की कुशलता का वर्णन किया जाता है। वस्तुत: यह तीनों तत्त्व ' यूनानी रंगमंच ' के अनुकूल थे। जहां रात भर चलने वाले लंबे नाटक होते थे और दृश्य परिवर्तन की योजना नहीं होती थी। परंतु आज रंगमंच के विकास के कारण संकलन का महत्व समाप्त हो गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख न होते हुए भी नाटक में स्वाभाविकता, औचित्य तथा सजीवता की प्रतिष्ठा के लिए देशकाल वातावरण का उचित ध्यान रखा जाता है। इसके अंतर्गत पात्रों की वेशभूषा तत्कालिक धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों में युग का विशेष स्थान है। अत: नाटक के तत्त्वों में देशकाल वातावरण का अपना महत्व है।

संवाद

नाटक में नाटकार के पास अपनी ओर से कहने का अवकाश नहीं रहता। वह संवादों द्वारा ही वस्तु का उद्‌घाटन तथा पात्रों के चरित्र का विकास करता है। अत: इसके संवाद सरल, सुबोध, स्वभाविक तथा पात्रअनुकूल होने चाहिए। गंभीर दार्शनिक विषयों से इसकी अनुभूति में बाधा होती है। इसलिए इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। नीर सत्ता के निरावरण तथा पात्रों की मनोभावों की मनोकामना के लिए कभी-कभी स्वागत कथन तथा गीतों की योजना भी आवश्यक समझी गई है।

रस

नाटक में नवरसों में से आठ का ही परिपाक होता है। शांत रस नाटक के लिए निषिद्ध माना गया है। वीर याश्रृंगार में से कोई एक नाटक का प्रधान रस होता है।

अभिनय

यह नाटक की प्रमुख विशेषता है। नाटक को नाटक के तत्त्व प्रदान करने का श्रेय इसी को है। यही नाट्यतत्त्व का वह गुण है जो दर्शक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस संबंध में नाटककार को नाटकों के रूप, आकार, दृश्यों की सजावट और उसके उचित संतुलन, परिधान, व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि –विधानों की ओर विशेष रुप से होनी चाहिए इसी में नाटक की सफलता निहित है।

अभिनय भी नाटक का प्रमुख तत्त्व है। इसकी श्रेष्ठता पात्रों के वाकचातुर्य और अभिनय कला पर निर्भर है। मुख्य प्रकार से अभिनय 4 प्रकार का होता हॅ।

1. आंगिक अभिनय (शरीर से किया जाने वाला अभिनय),
2. वाचिक अभिनय (संवाद का अभिनय रेडियो नाटक,,
3. आहार्य अभिनय (वेशभूषा, मेकअप, स्टेज विन्यास, प्रकाश व्यवस्था आदि),
4. सात्विक अभिनय (अंतरात्मा से किया गया अभिनय रस आदि,।

इतिहास एवं उद्‌भव

प्राचीन काल–भारत में अभिनय-कला और रंगमंच का वैदिक काल में ही निर्माण हो चुका था। तत्पश्चात् संस्कृत रंगमंच तो अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था-भरत मुनि का नाट्यशास्त्र इसका प्रमाण है। बहुत प्राचीन समय में भारत में संस्कृत नाटक धार्मिक अवसरों, सांस्कृतिक पर्वों, सामाजिक समारोहों एवं राजकीय बोलचाल की भाषा नहीं रही तो संस्कृत नाटकों की मंचीकरण समाप्त-सा हो गया।

भारतवर्ष में नाटकों का प्रचार बहुत प्राचीन काल से है। भरत मुनि का नाटयशास्त्र बहुत पुराना है। रामायण, महाभारत, हरिवंश इत्यादि में नट और नाटक का उल्लेख है। पाणिनि ने 'शिलाली' और 'कृशाश्व' नामक दो नटसूत्रकारों के नाम लिए हैं। शिलाली का नाम शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण और सामवेदीय अनुपद सूत्र में मिलता हैं। विद्वानों ने ज्योतिष की गणना के अनुसार शतपथ ब्राह्मण को 4000 वर्ष से ऊपर का बतलाया है। अत: कुछ पाश्चात्य विद्वानों की यह राय है कि ग्रीस या यूनान में ही सबसे पहले नाटक का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक

नहीं है। हरिवंश में लिखा है कि जब प्रद्युम्न, सांब आदि यादव राजकुमार वज्रनाभ के पुर में गए थे तब वहाँ उन्होंने रामजन्म और रंभाभिसार नाटक खेले थे। पहले उन्होंने नेपथ्य बाँधा था जिसके भीतर से स्त्रियों ने मधुर स्वर से गान किया था। शूर नामक यादव रावण बना था, मनोवती नाम की स्त्री रंभा बनी थी, प्रद्युम्न नलकूबर और सांब विदूषक बने थे। विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया हैं कि हिंदुओं ने अपने यहाँ नाटक का प्रादुर्भाव अपने आप किया था। प्राचीन हिंदू राजा बड़ी बड़ी रंगशालाएँ बनवाते थे। मध्यप्रदेश में सरगुजा एक पहाड़ी स्थान है, वहाँ एक गुफा के भीतर इस प्रकार की एक रंगशाला के चिह्न पाए गए हैं। यह ठीक है कि यूनानियों के आने के पूर्व के संस्कृत नाटक आजकल नहीं मिलते हैं, पर इस बात से इनका अभाव, इतने प्रमाणों के रहते, नहीं माना जा सकता। संभव है, कलासंपन्न यूनानी जाति से जब हिंदू जाति का मिलन हुआ हो तब जिस प्रकार कुछ और बातें एक ने दूसरे की ग्रहण की। इसी प्रकार नाटक के संबंध में कुछ बातें हिंदुओं ने भी अपने यहाँ ली हों। बाह्यपटी का 'जवनिका' (कभी कभी 'यवनिका') नाम देख कुछ लोग यवन संसर्ग सूचित करते हैं। अंकों में जो 'दृश्य' संस्कृत नाटकों में आए हैं उनसे अनुमान होता है कि इन पटों पर चित्र बने रहते थे। अस्तु अधिक से अधिक इस विषय में यही कहा जा सकता है कि अत्यंत प्राचीन काल में जो अभिनय हुआ करते थे उनमें चित्रपट काम में नहीं लाए जाते थे। सिकंदर के आने के पीछे उनका प्रचार हुआ। अब भी रामलीला, रासलीला बिना परदों के होती ही हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल में प्रादेशिक भाषाओं में लोकतंत्र का उदय हुआ। यह विचित्र संयोग है कि मुस्लिमकाल में जहाँ शासकों की धर्मकट्टरता ने भारत की साहित्यिक रंग-परम्परा को तोड़ डाला वहाँ लोकभाषाओं में लोकमंच का अच्छा प्रसार हुआ। रासलीला, रामलीला तथा नौटंकी आदि के रूप में लोकधर्मी नाट्यमंच बना रहा। भक्तिकाल में एक ओर तो ब्रज प्रदेश में कृष्ण की रासलीलाओं का ब्रजभाषा में अत्यधिक प्रचलन हुआ और दूसरी और विजयादशमी के अवसर पर समूचे भारत के छोटे-बड़े नगरों में रामलीला बड़ी धूमधाम से मनाई जाने लगी।

साहित्यिक दृष्टि से इस मध्यकाल में कुछ संस्कृत नाटकों के पद्यबद्ध हिन्दी छायानुवाद भी हुए, जैसे नेवाज कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल', सोमनाथ कृत

'मालती-माधव', हृदयरामचरित 'हनुमन्नाटक' आदि कुछ मौलिक पद्यबद्ध संवादात्मक रचनाएँ भी हुई, जैसे लछिराम कृत 'करुणाभरण', रघुराम नागर कृत 'सभासार' (नाटक), गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्नविजय' आदि पर इनमें नाटकीय पद्धति का पूर्णतया निर्वाह नहीं हुआ। ये केवल संवादात्मक रचनाएँ ही कही जा सकती हैं।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि तथा साहित्यिक रचनाओं के अभाव के कारण मध्यकाल में साहित्यिक रंगकर्म की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं हुई। सच तो यह है कि आधुनिक काल में व्यावसायिक तथा साहित्यिक रंगमंच के उदय से पूर्व हमारे देश में रामलीला, नौटंकी आदि के लोकमंच ने ही चार-पाँच सौ वर्षों तक हिन्दी रंगमंच को जीवित रखा। यह लोकमंच-परम्परा आज तक विभिन्न रूपों में समूचे देश में वर्तमान है। उत्तर भारत में रामलीलाओं के अतिरिक्त महाभारत पर आधारित 'वीर अभिमन्यु', 'सत्य हरिशचन्द्र' आदि ड्रामे तथा 'रूप-बसंत', 'हीर-राँझा', 'हकीकतराय', 'बिल्वामंगल' आदि नौटंकियाँ आज तक प्रचलित हैं।

आधुनिक काल

आधुनिक काल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ रंगमंच को प्रोत्साहन मिला। फलतः समूचे भारत में व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ स्थापित हुई। नाट्यारंगन की प्रवृत्ति सर्वप्रथम बँगला में दिखाई दी। सन् 1835 ई. के आसपास कलकत्ता में कई अव्यावसायिक रंगशालाओं का निर्माण हुआ। कलकत्ता के कुछ सम्भ्रान्त परिवारों और रईसों ने इनके निर्माण में योग दिया था और दूसरी ओर व्यावयायिक नाटक मंडलियों के असाहित्यिक प्रयास से अलग था।

बँगला के इस नाट्य-सृजन और नाट्यारंगन का अध्ययन इसलिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रंगांदोलन को इसी से दशा, दिशा और प्रेरणा मिली थी। बँगला के इस आरम्भिक साहित्यिक प्रयास में जो नाटक रचे गए वे मूल संस्कृत या अंग्रेजी नाटकों के छायानुवाद या रूपान्तर थे। स्पष्ट है कि भारतेन्दु का आरम्भिक प्रयास भी संस्कृत नाटकों के छायानुवाद का ही था।

हिन्दी रंगमंचीय साहित्यिक नाटकों में सबसे पहला हिन्दी गीतिनाट्य अमानत कृत 'इंदर सभा' कहा जा सकता है जो सन् 1853 ई. में लखनऊ के नवाब वाजिद अलीशाह के दरबार में खेला गया था। इसमें उर्दू-शैली का वैसा ही प्रयोग था जैसा पारसी नाटक मंडलियों ने अपने नाटकों में अपनाया। सन्

1862 ई. में काशी में 'जानकी मंगल' नामक विशुद्ध हिन्दी नाटक खेला गया था।

उपर्युक्त साहित्यिक रंगमंच के उपर्युक्त छुटपुट प्रयास से बहुत आगे बढ़कर पारसी मंडलियों-ओरिजिनल विक्टोरिया, एम्प्रेस विक्टोरिया, एल्फिंस्टन थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल तथा न्यू अलफ्रेड कम्पनी आदि-ने व्यावसायिक रंगमंच बनाया। सर्वप्रथम बंबई और बाद में हैदराबाद, लखनऊ, बनारस, दिल्ली लाहौर आदि कई केन्द्रों और स्थानों से ये कम्पनियाँ देश-भर में घूम-घूमकर हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन करने लगीं। इन पारसी नाटक मंडलियों के लिए पहले-पहल नसरबानी खान साहब, रौनक बनारसी, विनायक प्रसाद 'तालिब', 'अहसन' आदि लेखकों ने नाटक लिखे। जनता का सस्ता मनोरंजन और धनोपार्जन ही इन कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य था।

इसी से उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों से इनका विशेष प्रयोजन नहीं था। धार्मिक-पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान नाटकों को ही ये अपने रंगमंच पर दिखाती थीं। सस्ते और अश्लील प्रदर्शन करने में इन्हें जरा भी संकोच नहीं था। इसी से जनता की रुचि भ्रष्ट करने का दोष इन पर लगाया जाता है। भ्रमण के कारण इन कम्पनियों का रंगमंच भी इनके साथ घूमता रहता था।

किसी स्थायी रंगमंच की स्थापना इनके द्वारा भी संभव नहीं थी। रंगमंच का ढाँचा बल्लियों द्वारा निर्मित किया जाता था और स्टेज पर चित्र-विचित्र पर्दे लटका दिए जाते थे। भड़कीली-चटकीली वेशभूषा, पर्दों की नई-नई चित्रकारी तथा चमत्कारपूर्ण दृश्य-विधान की ओर इनका अधिक ध्यान रहता था। पर्दों को दृश्यों के अनुसार उठाया-गिराया जाता था। संगीत-वाद्य का आयोजन स्टेज के अगले भाग में होता था। गंभीर दृश्यों के बीच-बीच में भी भद्दे हास्यपूर्ण दृश्य जानबूझकर रखे जाते थे। बीच-बीच में शायरी, गजलें और तुकबन्दी खूब चलती थी। भाषा उर्दू-हिन्दी का मिश्रित रूप थी। संवाद पद्य-रूप तथा तुकपूर्ण खूब होते थे।

राधेश्याम कथावाचक, नारायणप्रसाद बेताब, आगाह कश्मीरी, हरिकृष्ण जौहर आदि कुछ ऐसे नाटककार भी हुए हैं जिन्होंने पारसी रंगमंच को कुछ साहित्यिक पुट देकर सुधारने का प्रयत्न किया है और हिन्दी को इस व्यावसायिक रंगमंच पर लाने की चेष्टा की। पर व्यावसायिक वृत्ति के कारण संभवत: इस रंगमंच पर सुधार संभव नहीं था। इसी से इन नाटककारों को भी व्यावसायिक बन जाना पड़ा। इस प्रकार पारसी रंगमंच न विकसित हो सका, न स्थायी ही बन सका।

हिंदी लोकनाट्य : विविधता में एकता

भारत बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक, बहुरंगी देश है। अनेक लोक कलाएँ, लोकनाट्य रूप (ज्ञात और अज्ञात) इसके विभिन्न प्रान्तों में बिखरे पड़े हैं। आश्चर्यजनक रूप से इतनी विविधता के बावजूद भारतीय लोकनाटकों में एक जबरदस्त एकता दिखाई देती है। यह एकता शिल्प के स्तर पर पूर्वरंग, संगीत की प्रधानता, कथावस्तु अथवा सूत्रधार या विदूषक के रूप में दिखाई देती है। लगभग सभी लोकनाटक किसी-न-किसी रूप में नाट्यशास्त्र के पूर्वरंग की विधि का पालन करते हैं। सूत्रधार, नट-नटी, विदूषक इत्यादि नाट्यशास्त्र से ही इधर आये हैं। यही वह धागे हैं, जिनसे बंधकर एक भौगोलिक स्थितियों में ना होने के बावजूद भारत जैसे विशाल देश में जातीय संस्कृति की एकता दिखायी देती है। इस विशिष्टता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए, डॉ.वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी अपनी पुस्तक भारतीय लोकनाट्य की भूमिका में लिखते हैं–"लोककला रुपों की जातीय संस्कृति से गहरी निकटता रही है। ये कला रूप अलग-अलग क्षेत्रों में अपनी विशिष्टता के अनुरूप परस्पर भिन्न शैल्पिक निजता रखने के बावजूद अंतर्वस्तु के स्तर पर गहरे एकात्म होते हैं। लोकगीतों, कलाओं और लोकनाट्य रूपों के सन्दर्भ में इसे देखा जा सकता है। 1 लोकनाटकों के उदय की पृष्ठभूमि के बारे में बलवंत गार्गी का मत है कि "संस्कृत नाटक विद्वानों, श्रेष्ठियों और दरबारियों के लिए था। इसकी भाषा बहुत गूढ़ और अलंकृत होती थी। यह जनसाधारण के जीवन में घुला-मिला रहा है। समय के साथ-साथ यह अपना रूप बदलता और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको ढालता रहा है। वैसे संस्कृत नाटकों के बाद मध्यकाल के भक्ति आंदोलन ने लोक नाटकों के विकास में बड़ी भूमिका निभाई ऐसा माना जा सकता है, क्योंकि दक्षिण से लेकर सुदूर पूर्व तक लोकनाटकों के कथानकों का बड़ा आधार जनमानस में प्रचलित धार्मिक आख्यान ही रहे। शिष्ट यानी संस्कृत् के सामानांतर चलने वाले इस लोकमंच के नाटकों की अपनी एक सुदीर्घ परंपरा रही है। राम और कृष्ण की कथाएँ इन नाटकों में कथ्य का काम करती रही थी और आज भी गतिमान अवस्था में है।

ऐसा क्यों हुआ होगा कि लोकनाटक इतने अधिक प्रभावी और जनव्याप्ति के माध्यम हो गए। दरअसल, संस्कृत नाटक उन अपार जनसमूहों से अपना जुड़ाव कर सकने में असमर्थ हो गए, जिनको दृष्टिपथ में रखकर इस 'पंचम वेद' की रचना हुई थी। उमा आनंद ने अपनी पुस्तक 'द रोमांस ऑफ थियेटर' में इसके

कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–क्लासिक माने जाने वाले संस्कृत रंगमंच भरतमुनि के विचारों को पूर्ण करने में असमर्थ हो गए, क्योंकि वह संभ्रांत, उच्चवर्गीय राजाओं और उनके कुलीन शिक्षित ब्राह्मणों का होकर रह गया था। वह आमजन का रंगमंच नहीं था। तो आमजन के यहाँ रंगमंच का एक अलग प्रकार विकसित हुआ, आम जनता का लोक रंगमंच। यही लोकनाटक है–उमा आनंद के इन तर्कों से सहमत हुआ जा सकता है। जब मंदिरों और राज्याश्रयों में रंगकला पोषित और खास वर्ग के लिए खेली, तैयार की जाती रही, तब ऐसे में बहुसंख्यक जनता के लिए, उनके मनोरंजन के लिए उन्हीं के द्वारा रंगकला रची गई, जिनमें सूत्र भरतमुनि से लिए गए और कथानक लोक प्रचलित धार्मिक आख्यानों से। "लोकनाट्य सामूहिक आवश्यकताओं एवं प्रेरणाओं से निर्मित होने के कारण लोकवार्ता के कथानकों, लोकविश्वासों तथा अन्य तत्त्वों को समेटकर चलते हैं, इसलिए प्रभावपूर्ण होते हैं।" कालान्तर में कथानकों के विषय भी बहुरंगी हो गए, मसलन रंगमंच के कथावस्तु के लिए जिस तरह की प्रस्तावना प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्रित की गई थी, वह धीरे-धीरे लोकनाटकों का भी विषय बनने लगी।

यद्यपि आज भी अधिकांशतः धार्मिक और सामाजिक आख्यान ही मूल कथा के तौर पर लोकनाटकों में प्रयुक्त होते हैं। हालांकि यह भी ध्यान देने की बात है कि, इनमें कोई निश्चित स्क्रिप्ट नहीं होती, इसलिए लोकमंच के कलाकार अपने भावों को प्रकट करने के लिए और स्पष्ट होता है। वाक् पटुता और इम्प्रोवाईजेशन इन लोकनाटकों की सबसे बड़ी ताकत होती है। इसलिए लोकनाटकों की रंगशैलियों में उन्मुक्तता और तनावहीनता प्रमुख रूप से दिखाई देती है।

नाट्यशास्त्र से कुछ जरुरी टूल्स इन नाटकों ने लिए हैं, मसलन विदूषक या सूत्रधार का चरित्र लगभग सभी लोकनाटकों में अलग-अलग नाम से सभी रूपों में मौजूद है। बिदेसिया में 'लबार', नौटंकी में 'रंगा', माच में 'शेरमार खां', भवाई में 'रंगला या कुटकड़िया', बिदापत नाच में 'बिपटा', आदि कुछ प्रमुख सह-चरित्र हैं, जिनका मुख्य कार्य नायक की मदद करना, कथानक का विकास करना और अपने आंगिक हाव-भाव, रूपसज्जा तथा संवादों से दर्शकों/जनसमूहों का मनोरंजन करना होता है। वह अपने इन्हीं क्रियाव्यापारों से लोगों में एक उत्सुकता का माहौल और आकर्षण बनाये रखता है। किसी लोकनाटक के प्रसिद्ध और सफल होने के पीछे उसके सूत्रधार/विदूषक की भूमिका भी काफी

महत्वपूर्ण होती है। इन लोकनाटक के अभिनेताओं का मुख्य कर्म लोकरंजन करना होता है, अभिनय करना मात्र नहीं। गीत और संगीत की योजना भी लगभग सभी लोकनाटकों में समान रूप से पाई जाती है। एक और बड़ी एकता इन नाटकों में यह भी देखने को मिलती है कि इनमें स्त्री चरित्रों की भूमिका भी पुरुष ही निभाते हैं, यद्यपि हाल के कुछ वर्षों में स्त्री अभिनेत्रियों की भी उपस्थिति इन मंचों पर हुई है। इस जड़ता का टूटना एक स्वागतयोग्य कदम है।

बिदेसिया के प्रदर्शन में और इसे एक नयी ऊँचाई देने वाले रंगकर्मी संजय उपाध्याय ने प्यारी सुन्दरी और रखेलिन की भूमिका में स्त्री अभिनेत्रियों को रखा और नाटक का मजा बेस्वाद नहीं हुआ तथा यह लगातार सफलता से खेला जा रहा है। वहीं इसी लोकनाट्य रूप का एक 'फॉर्म' पूनम सिंह के प्रदर्शन का है, जिन्होंने तमाम सामाजिक बंधनों के बावजूद इस लोकनाटक के प्रति लोगों को अपनी इस मानसिकता को बदलने पर मजबूर कर दिया है कि लोकनाटक का मंच केवल पुरुष-प्रधान ही हो सकता है। लोकनाट्य परंपरा के इतिहास में रंगकर्मी पूनम सिंह का यह कदम इसलिए भी सराहनीय है, क्योंकि यह लोक कलाकार अपनी बेटियों को साथ लेकर लोक रंगमंच के पुरुष वर्चस्व को चुनौती दे रहीं हैं। इसकी ताकत उन्हें लोकनाटकों की ही परंपरा से मिली है। आखिर लोकनाटकों के मंच ने खुले में उपेक्षित जनसमुदायों के बीच खड़े होकर अपना स्वरुप और पाठ रचा तथा संस्कृत 'एलीट' थियेटर को चुनौती डी। साथ ही, अपना एक व्यापक 'स्पेस' बनाया। दरअसल, इसकी व्याप्ति का बड़ा कारण रहा कि यह अभिनटन-परक प्रस्तुति और अपने संवादों-गीतों (संगीतात्मकता) पर अधिक जोर देता है, जो जनता के हृदय में सदियों से उसके सुख-दु:ख के साथी रहे हैं।

सही मायनों में यह हमारे लोकसंस्कृति का अटूट हिस्सा है। इसलिए लोकनाटकों को भृत्य जातीय संस्कृति का प्रामाणिक दस्तावेज माना जा सकता है, क्योंकि यह अपने स्थानीय तत्त्वों के सहारे अपना रंग-विधान खड़ा करती है और हमारी जातीय सांस्कृतिक चेतना के बीज इन्हीं 'लोकल' (स्थानीय/आमजन के समाजों) जमीनों से अपना रस लेकर हमारी रंग-अस्मिता को समृद्ध करती हुई, वैश्विक मंच पर आती है। "लोक रंगमंच लोक समाज की देह का अंग है, नागरिक या साहित्यिक रंगमंच उसका बाहरी आभूषण, लोक रंगमंच जीवन की उमंग की स्वाभाविक अनायास अभिव्यक्ति है, नागरिक रंगमंच कलात्मक

चेष्टायुक्त अभिव्यक्ति। इसलिए भारतीय रंगमंच का इतिहास भी तब तक अधूरा है, जब तक इसे लिखते समय इन लोकनाटकों के इतिहास और भारतीय रंगमंच के विकास में इनकी भूमिका को अनिवार्यत: महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। शायद यही वजह है कि सम्प्रेषण के जादुई और नित नए उपकरणों के बीच भी लोक रंगमंच मजबूती से अपनी जमीन पर खड़ा है, उतनी ही प्रसिद्धि से उतनी ही व्याप्ति से। ऐसा होना इसलिए भी लाजिमी है, क्योंकि इन नाटकों का मंच लोक का चित है, न कि कोरी सैद्धांतिक किताबें। सच कहें तो, लोकनाट्य सामूहिक आवश्यकताओं एवं प्रेरणाओं से निर्मित्त होने के कारण लोक के करीब है और हबीब तनवीर (लोकनाट्य रूप नाचा गम्मत शैली के प्रयोक्ता) जैसे रंगकर्मियों ने तो इसे वैश्विक रंगमंच पर खड़ा कर विश्व को भारतीय रंगमंच का एक और नायाब पक्ष दिखाया है।

बी.वी.कारंथ ने रंगभाषा के केंद्र में जिस अभिनेता के होने की बात की है, दरअसल वह हमारे लोकनाटकों पर अधिक लागू होती है, जहाँ केंद्र में अभिनेता ही प्रमुख होता है, परन्तु प्राथमिक तौर पर अभिनय उनका ध्येय नहीं बल्कि लोकरंजन मुख्य अभीष्ट होता है। यह भी एक सच्चाई है कि कोई लोक कलाकार या अभिनेता अपनी बोली भाषा के परफार्मेंस में जितना स्वाभाविक होता है, वह उसी कथा के साथ किसी दूसरी बोली/भाषा में निष्प्रभावी हो जाता है। परिणामत: स्वाभाविकता, जो इन नाटकों का प्राण तत्त्व होती है, वह अभिनेता के निश्तेज होने के साथ ही खत्म हो जाती है। ऐसी स्थिति में संप्रेषणीय रंगभाषा की निर्मित्ति भी संभव नहीं रह जाती। लोक नाटकों में गीत-संगीत-तत्त्व और नृत्य की प्रधानता होने के कारण यह कलारूप अन्य नाट्यरूपों की ही तरह रंगभाषा का वितान अभिनेता और अन्य मंचीय उपकरणों के सहारे खड़ा करती है। स्वाभाविक रूप से संगीत और गीत लोकनाटकों का मजबूत पक्ष है। यद्यपि निर्देशकनुमा जीव लोकनाट्य मंच पर अधिक प्रभावी नहीं, यहाँ सारा क्रियाव्यापार अभिनेता के आसरे होता है। वैसे रंगभाषा का कोई लिखित व्याकरणिक रूप तो नहीं होता, पर अभिनेता और पार्श्व में गतिमान स्थितियाँ ही उसका व्याकरण रचती हैं और यह हर बार अलग-अलग अभिनेता तथा प्रस्तुति के अनुसार अलग प्रभाव की हो सकती है। लोकनाटकों की रंगभाषा और प्रभाव का क्षेत्र तथा इसके प्रेरक और उत्पत्ति का स्रोत उनका अपार जनसमूह ही है, जो कन्याकुमारी से लेकर कश्मीर और पूर्वोत्तर तक विस्तृत है, जिनका आश्रय पाकर यह लोक परंपरा आज तक निर्बाध रूप से गतिशील है।

भारत में रंगमंच का इतिहास

रंगमंच (थिएटर) वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हों। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिए दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेशभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है और मंच इसलिए प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिए रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊँचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन को प्रेक्षागृह, रंगशाला, या नाट्यशाला (या नृत्यशाला) कहते हैं। पश्चिमी देशों में इसे थिएटर या ऑपेरा नाम दिया जाता है।भारत में रंगमंच का इतिहास बहुत पुराना है। ऐसा समझा जाता है कि नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। ऋग्वेद के कतिपय सूत्रों में यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी आदि के कुछ संवाद हैं। इन संवादों में लोग नाटक के विकास का चिह्न पाते हैं। अनुमान किया जाता है कि इन्हीं संवादों से प्रेरणा ग्रहण कर लागों ने नाटक की रचना की और नाट्यकला का विकास हुआ। यथासमय भरतमुनि ने उसे शास्त्रीय रूप दिया।

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटकों के विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है–

नाट्यकला की उत्पत्ति दैवी है, अर्थात् दुःखरहित सत्ययुग बीत जाने पर त्रेतायुग के आरंभ में देवताओं ने स्रष्टा ब्रह्मा से मनोरंजन का कोई ऐसा साधन उत्पन्न करने की प्रार्थना की जिससे देवता लोग अपना दुःख भूल सकें और आनंद प्राप्त कर सकें। फलतः उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर, नाटक का निर्माण किया। विश्वकर्मा ने रंगमंच बनाया आदि आदि।

नाटकों का विकास चाहे जिस प्रकार हुआ हो, संस्कृत साहित्य में नाट्य ग्रंथ और तत्संबंधी अनेक शास्त्रीय ग्रंथ लिखे गए और साहित्य में नाटक लिखने की परिपाटी संस्कृत आदि से होती हुई हिंदी को भी प्राप्त हुई। संस्कृत नाटक उत्कृष्ट कोटि के हैं और वे अधिकतर अभिनय करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। अभिनीत भी होते थे, बल्कि नाट्यकला प्राचीन भारतीयों के जीवन का अभिन्न अंग थी, ऐसा संस्कृत तथा पाली ग्रंथों के अन्वेषण से ज्ञात होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो ऐसा ज्ञात होता है कि नागरिक जीवन के इस अंग

पर राज्य को नियंत्रण करने की आवश्यकता पड़ गई थी। उसमें नाट्यगृह का एक प्राचीन वर्णन प्राप्त होता है। अग्निपुराण, शिल्परत्न, काव्यमीमांसा तथा संगीतमार्तंड में भी राजप्रसाद के नाट्यमंडपों के विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार महाभारत में रंगशाला का उल्लेख है और हरिवंश पुराण तथा रामायण में नाटक खेले जाने का वर्णन है।

इतना सब होते हुए भी यह निश्चित रूप से पता नहीं लगता कि वे नाटक किस प्रकार के नाट्यमंडपों में खेले जाते थे तथा उन मंडपों के क्या रूप थे। अभी तक की खोज के फलस्वरूप सीतावंगा गुफा को छोड़कर कोई ऐसा गृह नहीं मिला जिसे साधिकार नाट्यमंडप कहा जा सके।

भारत के आदिकालीन रंगमंच

भारत में जब रंगमंच की बात होती है तो ऐसा माना जाता है कि छत्तीसगढ़ में स्थित रामगढ़ के पहाड़ पर महाकवि कालीदास जी द्वारा निर्मित एक प्राचीनतम नाट्यशाला मौजूद है। रामगढ़ सरगुजा जिले के उदयपुर क्षेत्र में है,यह अम्बिकापुर–रायपुर हाइवे पर स्थित है। मान्यताओं के अनुसार कवि कालिदास जी ने अपने महाकाव्य मेघदूतम की रचना भी रामगढ़ के पहाड़ पर ही की। इस आधार पर यह भी कहा जाता है कि अम्बिकापुर जिले के रामगढ़ पहाड़ पर स्थित महाकवि कालिदास जी द्वारा निर्मित नाट्यशाला भारत का सबसे पहला नाट्यशाला है। सीतावंगा की गुफा के देखने से पुराने नाट्यमंडपों के स्वरूप का कुछ अनुमान हो जाता है। यह गुफा 13.8 मीटर लंबी तथा 7.2 मीटर चौड़ी है। भीतर प्रवेश करने के लिए बाईं ओर से सीढ़ियाँ हैं, जिनसे कदाचित अभिनेता प्रवेश करते थे। भीतरी भाग में रंगमंच की व्यवस्था है। यह 2.3 मीटर चौड़ी तीन सीढ़ियों (चबूतरों) से बना है, जो एक दूसरे से 75 सेंमी. ऊँची हैं। चबूतरों के समने दो छेद हैं, जिनमें शायद बाँस या लकड़ी के खंभे लगाकर पर्दे लगाए जाया करते थे। दर्शकों के लिए जो स्थान है, वह ग्रीक ऐंफीथिएटर की भाँति सीढ़ीनुमा है। यहाँ 50 व्यक्ति बैठ सकते हैं। यह आदिकालीन रंगमंच का स्वरूप भी ऊपर वर्णित विकसित स्वरूप से मेल खाता है। भरत नाट्यशास्त्र से भी हमें नाट्यमंडप के प्राचीन स्वरूप का संकेत मिलता है। आदिवासियों के मंडप गुफारूपी (शैलगुहाकारी) हुआ करते थे, किंतु आर्य लोग अपनी आश्रम सभ्यता के अनुरूप अस्थायी तंबूनुमा नाट्यमंडपों से ही काम चलाया करते थे।

भरत नाट्यशास्त्र पहली अथवा दूसरी शती ई. में संकलित हुआ समझा जाता है। भरत ने आदिवासियों तथा आर्यों दोनों के नाट्यमंडपों के आकार को अपनाया है। इन दोनों के सम्मिश्रण से इन्होंने नाट्यमंडपों के जो रूप निर्धारित किए, वे सर्वथा भारतीय हैं। प्राचीन यूनानी और रोमन स्वरूपों से इनका कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। पाश्चात्य नाट्यमंडप खुले मैदानों में बनते थे और उनमें दर्शकों के हेतु सीढ़ीनुमा अर्धचंद्राकार प्रेक्षास्थान बनते थे। इसके विपरीत भारत में नाट्यमंडप की व्यवस्था एक गृह के भीतर होती थी।

भरत के रंगमंच

भारतीय समाज में पारंपरिकता का विशेष स्थान है। परंपरा एक सहज प्रवाह है। निश्चय ही, पारंपरिक कलाएं समाज की जिजीविषा, संकल्पना, भावना, संवेदना तथा ऐतिहासिकता को अभिव्यक्त करती हैं। नाटक अपने आप में संपूर्ण विधा है, जिसमें अभिनय, संवाद, कविता, संगीत इत्यादि एक साथ उपस्थित रहते हैं। परंपरा में नाटक एक कला की तरह है।

लोकजीवन में गेयता एक प्रमुख तत्व है। सभी पारंपरिक भारतीय नाट्यशैलियों में गायन की प्रमुखता है। यह जातीय संवेदना का प्रकटीकरण है। भरत ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों का विधान बताया है– विकृष्ट (अर्थात् आयताकार), चतुरस्र (वर्गाकार) तथा त्रयस्र (त्रिभुजाकार)। उन्होंने इन तीनों के फिर तीन तीन भेद किए हैं–ज्येष्ठ (देवताओं के लिए), मध्यम (राजाओं के लिए), तथा अवर (औरों के लिए)। इनकी माप के विषय के दिए गए निर्देशों के अनुसार ज्येष्ठ की लंबाई लगभग 51 मीटर, मध्यम की लगभग 29 मीटर और अवर की लगभग 15 मीटर होगी। चतुरस्र मंडप की चौड़ाई लंबाइ के बराबर और विकृष्ट की लंबाई से आधी होगी।

भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यमंडप की नाप के आधार अणु, रज (=8 अणु), बाल (=8 रज), लिक्षा (=8 बाल), यूका (=8 लिक्षा), यव (=8 यूका), अँगुली (=8 यव), हस्त (=24 अंगुली) और दंड (=4 हस्त) हुआ करते थे। इस प्रकार एक हस्त 456 मिलीमीटर का होता है। कौटिल्य और पाणिनि ने माप के जो आधार दिए हैं, वे भी इनसे मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि ये आधार सिंधु सभ्यता के बाद इस देश में चालू हुए होंगे, क्योंकि उस प्राचीन सभ्यता में जो मापें मिली हैं, उनका आधार दशमलव प्रणाली है।

नाट्यशाला का प्रायः आधार भाग दर्शकों के लिए होता था, जिसे प्रेक्षागृह कहते थे, शेष आधे में रंगमंडप होता था। रंगमंडप के पिछले आधे भाग में नेपथ्य होता था। शेष के आधे में सामने रंगशीर्ष और पीछे, नेपथ्य की ओर, रगंपीठ होता था। नेपथ्य से रंगपीठ में आने जाने के लिए किनारों पर दो दरवाजे होते थे, जिनमें संभवतः किवाड़े नहीं लगा करते थे। रंगपीठ के ऊपर ही, चार खंभों पर छत रखकर, मत्तवारणी बनाई जाती थी। मत्तवारणी संभवतः अटारी का द्योतक है। खंभों पर प्रायः हाथी के सिर के सदृश बनी घोड़ियों के ऊपर यह छत रहती थी, इसी से (शायद) इसे मत्तवारणी कहते थे। प्रेक्षागृह सीढ़ीनुमा बनाया जाता था। इन सीढ़ियों में से प्रत्येक 1 हाथ ऊँची होती थी और उसपर लकड़ी के पटरे भी लगा करते थे, शायद उसी प्रकार के जैसे रोमन थिएटरों में होते थे।

दीवारों को भीतर की ओर सजाने का भी विधान है। भरत के अनुसार भीत पर अच्छा भित्तिलेप (प्लास्टर) चढ़ाना चाहिए। विद्वानों का मत है कि मिट्टी तथा भूसी को मिलाकर लेवा चढ़ाया जाता था। इसे पीटकर समतल किया जाता था। फिर एक परत चूने की चढ़ाई जाती थी, जिसे घिस घिसकर चिकना किया जाता था। इसके ऊपर शंख पीसकर चढ़ाते थे और पालिश करते थे। इन भीतों पर सुंदर चित्रकारी की जाती थी।

नाट्यमंडप में दीवारों के साथ खंभे बनाकर ऊपर छत बनाई जाती थी। रात्रि के समय प्रकाश के लिए दीपक व्यवहार में आते थे। बहुत से दीपकों के अतिरिक्त शायद मशाल से भी काम लिया जाता रहा होगा। ध्वनि नियंत्रण तथा विस्तार का कोई प्रबंध शायद न था इसलिए भी नाट्यशालाएँ कुछ छोटी ही हुआ करती थीं। भारतीय प्रेक्षागृह आकार में ग्रीक प्रेक्षागृहों की अपेक्षा, जो बहुधा खुले हुआ करते थे, बहुत छोटे होते थे।

भरत नाट्यशास्त्र में दिए हुए नाट्यमंडप के आकार प्रकार तथा सजावट से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय तक भारत के आदिवासियों के नाट्यमंडपों का प्राथमिक रूप, जो हमें सीतावंगा गुफा, हाथीगुंफा, तथा नासिक के पास फुलुमई गुफा में प्राप्त होता है, आर्यों के प्राचीनतम लकड़ी के मकानों के रूप में समन्वित होकर तथा दोनों के सम्मिश्रण से एक नया ढाँचा खड़ा हो चुका था। यही नहीं, नाट्यमंडप के रूप के विषय में नियम भी बन चुके थे तथा उनपर धर्म का नियंत्रण भी प्रारंभ हो चुका था। ये नियम इतने कड़े थे कि मापने की रस्सी टूट जाना तथा एक भी स्तंभ का दोषयुक्त होना, नाट्यमंडप के स्वामी के मरण का सूचक समझा जाने लगा था। भरत के समय तक भारतीय रंगमंच इस

महान संसार का द्योतक माना जाने लगा था, जहाँ स्त्री-पुरुष प्रविष्ट होकर अपनी पूर्वनिश्चित लीला करते हैं तथा उसकी समाप्ति पर यहाँ से विदा लेते हैं।

वर्तमान भारतीय रंगमंच

आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य का इतिहास एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। इस्लाम धर्म की कट्टरता के कारण नाटक को मुगल काल में उस प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला जिस प्रकार का प्रोत्साहन अन्य कलाओं को मुगल शासकों से प्राप्त हुआ था। इस कारण मुगल काल के दो ढाई सौ वर्षों में भारतीय परंपरा की अभिनयशालाओं अथवा प्रेक्षागारों का सर्वथा लोप हो गया। परन्तु राम लीला आदि की तरह लोक कला के माध्यम से भारतीय थिएटर जीवित रही अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में व्याप्त होने पर उनके देश की अनेक वस्तुओं ने हमारे देश में प्रवेश किया। उनके मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ। उन लोगों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हैं। इस ढंग का पहला थिएटर, कहा जाता है, पलासी के युद्ध के बहुत पहले, कलकत्ता में बन गया था। एक दूसरा थिएटर 1795 ई. में खुला। इसका नाम लेफेड फेयर' था। इसके बाद 1812 ई. में एथीनियम' और दूसरे वर्ष चौरंगी' थिएटर खुले।

इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया और उसने पाश्चात्य थिएटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिए रंगमंच को नया रूप दिया। दूसरी ओर बंबई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनयशालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए, एक नए ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया। पारसी नाटक कंपनियों ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक उपस्थित किए।

प्राचीन हिन्दी नाटक

हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य हैं अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्त्वों का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का 'शकुन्तला', कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' राजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय' नाटक

आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अत: वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है–

(1) भारतेन्दुयुगीन नाटक–1850 से 1900 ई.
(2) द्विवेदी युगीन नाटक–1901 से 1920 ई.
(3) प्रसाद युगीन नाटक–1921 से 1936 ई.
(4) प्रसादोत्तर युगीन नाटक–1937 से अब तक

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिंदी साहित्य का इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "जब भारतेंदु अपनी मंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्राकृत साहित्यिक रूप मिल गया।" आाचार्य शुक्ल की मान्यता है कि "साहित्य, शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों का प्रतिफलन है।" यहां पर शिक्षित जनता से उनका मतलब उन पढ़े-लिखे चिंतक विद्वानों से है, जो अपने समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और राजनीतिक-आर्थिक दशाओं के बारे में सोचने-विचारने की क्षमता रखते हैं। ऐसे लोग ही नये-नये जीवन मूल्यों को सुझा सकते हैं।

भारतेन्दु जी सही अर्थों में पूर्ण नाटककार थे। उन्होंने जब नाटक लिखना शुरु किया तब हिंदी नाट्य विधा संबंधी किसी तरह की सोच उपलब्ध नहीं थी। न ही हिंदी का अपना रंगमंच था। पारसी थियेटर की शुरुआत हो चुकी थी, लेकिन उन्हें हिंदी रंगमंच नहीं कहा जा सकता। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं,

"पारसी रंगमंच पर अभिनीत हिंदी के सस्ते नाटक सिनेमा आगमन के पूर्व हमारी अभिनय-दर्शन की भूख मिटाते रहे थे। ये नाटक सस्ती नीति के बल पर समाज-सुधार, धर्म, राष्ट्रीयता आदि का उपदेश देते थे, परंतु इनका उद्देश्य व्यवसाय ही था। अत: अधिक से अधिक ये जनता की रुचि का प्रसादन कर सकते थे, उसका परिष्कार नहीं। ... फिर भी श्री नारायणप्रसाद बेताब और पं. राधेश्याम कथावाचक के नाटकों को हिंदी भूल नहीं सकती।"

शुद्ध साहित्य के रूप में हिन्दी नाटक साहित्य का विकास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही किया। डॉ. दशरथ ओझा बताते हैं,

"पारसी थियेट्रिकल कम्पनी की अर्थ लिप्सा ने नाट्य-कला को अपनी दासी बनाया और अर्थपिशाच के हाथों इस ललित कला की हत्या होने लगी। भारतेन्दु जी का सुसंस्कृत हृदय इस अत्याचार को सहन न कर सका। कालिदास की शकुन्तला को पारसी रंगमंच पर निकृष्ट वेश्या की तरह नृत्य करते देखकर

उनको अत्यन्त क्लेश हुआ और अभिनय के योग्य उत्तम नाटक लिखने की प्रेरणा उनके हृदय का मन्थन करने लगी।"

भारतेन्दु और भारतेन्दु मंडल के नाटककारों का लक्ष्य समाज-सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान था। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने समाज के यथार्थ का चित्रण नाटकों में किया। उन्होंने तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराइयों, कुरीतियों, विकृतियों, अंधविश्वासों को देखा और उसे उसी रूप में प्रस्तुत भी किया। 'कविवचन सुधा' में समय-समय पर लिखे उनके लेख इसी का लेखा-जोखा है। लेकिन वे सिर्फ सैद्धांतिक यथार्थवादी नहीं थे। वे व्यावहारिक थे। उन्होंने बुराइयों की पहचान कर उसका यथार्थ चित्रण किया और उसके द्वारा भारतीय चिंतन के सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को अपनाकर सुधार करने के लिए प्रेरित करना अपना लक्ष्य बनाया।

भारतेन्दु ने जो राजनीतिक चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान का जो अलख जगाया उससे लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुए। भारतेन्दु युग में भारत गुलाम था। समाज तरह-तरह की रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। लोगों की आस्था और विश्वास खोखली होती जा रही थी। जातिप्रथा, धार्मिक अंधविश्वास ने समाज को पतनशील बना दिया था। एक रचनाकार का हृदय यह सब देख व्याकुल हो उठा। यथार्थबोध के इस नाटककार ने तत्कालीन परिस्थितियों के चित्रण के माध्यम से सुधार का बीड़ा उठाया। "अंधेर नगरी" हो या "भारत दुर्दशा" या फिर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", इनके माध्यम से उनके सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना प्रकट हुई है। उन्होंने लोगों में देशभाक्ति की चेतना को जगाया। यह चेतना सामाजिक नव जागरण की चेतना में रूपांतरित हुई। 1857 की क्रांति असफल हो चुकी थी। जनमानस में निराशा व्याप्त थी। एक प्रकार की शिथिलता व्याप्त थी। भारतेन्दु के नाटकों ने और उसके अभिनय ने वातावरण में नया उत्साह भरा, नया जोश पैदा किया। नाटकों में अतीत के गौरवपूर्ण अध्यायों को देख कर और आजादी के महत्व को समझ कर लोगों में आत्मविश्वास और स्वाभिमान का भाव जगा।

हालांकि नाटक के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का उदय करना और सांस्कृतिक जागरण उनके नाटक साहित्य रचने का उद्देश्य था, लेकिन वे मनोरंजन के विरोधी नहीं थे। न ही हास्य को हल्की-फुल्की नगण्य चीज मानते थे। मनोरंजन तो हो ही, साथ ही साथ नाटक के दर्शक को शिक्षा देना भी उनका लक्ष्य था। बड़ी से बड़ी समस्या को हास्य और तीखे व्यंग्य से कहकर वे नाटक

की मंचीय प्रकृति को उजागर करते हैं। उन्होंने नाटक-लेखन को नवजागरण से जोड़ा। उनका मानना था कि नाटकों के प्रदर्शन के माध्यम से समाज सुधार का आंदोलन अधिक प्रभावी हो सकता है। समाज को उसके यथार्थ को दिखा कर अधिक झकझोरा जा सकता है। उनकी जो दशा है उसे सुधारने के लिए उनको प्रेरित किया जा सकता है। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उन्होंने धार्मिक,सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि प्रश्नों को अपने प्रहसन नाटकों के द्वारा न सिर्फ सामने लाने का प्रयास किया बल्कि समाज के पुनरुत्थान का समाधान भी प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु जी ने आंदोलन की तरह नाट्यविद्या को लिया। उन्होंने नाटक लिखे, अनुदित किए, लिखवाए, उनकी समीक्षाएं प्रकाशित कीं, नाट्य मंडलियां बनाईं, जगह-जगह नाट्य-प्रदर्शन किये। कवितावर्धिनी सभा का निर्माण किया। पेनी रीडिंग क्लब की योजना बनाई। अपने संरक्षण में काशी में "नेशनल थियेटर" की स्थापना की। उनके मंडल के लेखकों ने काशी, प्रयाग, बिहार आदि अनेक नाट्य मंडलियां स्थापित कीं। नाटक संबंधी विस्तृत लेख लिखकर उन्होंने नाटक के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किए। इसमें उन्होंने नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर नाटक के विभिन्न पहलुओं पर विवेचना की।

उन्होंने हिंदी की अपनी नाट्य परंपरा, नाट्य शिल्प और रंगमंच के विकास के लिए संघर्ष किया। उन्होंने अपनी मौलिकता और चिन्तन को "नाटक" निबन्ध और नाट्य लेखन में प्रस्तुत किया। वे हिंदी की अपनी रंग-दृष्टि और नाट्य परंपरा का विकास करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने जहां एक ओर प्राचीन संस्कृत नाट्य परंपरा से सीखा, तो दूसरी ओर लोक नाटकों की परंपरा को भी अंगीकार किया। साथ ही उनका नाट्य चिंतन पश्चिम की नाट्य परंपरा से भी प्रेरित था। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी की नाट्य-दृष्टि भारतीय और आधुनिक है, रूढ़िबद्ध नहीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रचित नाटक

मौलिक व अनुदित नाट्य रचनाएं –

1. रत्नावली (1868), संस्कृत से अनुवाद
2. विद्या सुन्दर (1868), बंगला से छायानुवाद

3. पाखंड विडम्बन (1872) कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अंक का अनुवाद
4. धनंजय विजय (1873), कांचन कवि के संस्कृत नाटक का अनुवाद।
5. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),
6. प्रेमयोगिनी (1875),
7. सत्यहरिश्चन्द्र (1875),
8. कर्पूर मंजरी (1875), प्राकृत में राजशेखर रचित सट्टक का अनुवाद
9. विषस्य विषमौषधम् (1876),
10. चन्द्रावली (1876),
11. मुद्रा राक्षस (1878), संस्कृत के विख्यात नाटककार विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का अनुवाद
12. दुर्लभ बन्धु (1880) शेक्सपियर के नाटक 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद।
13. भारत दुर्दशा (1880),
14. अंधेर नगरी (1881)
15. नील देवी (1881), गीति रूपक
16. भारत जननी (1877), बंगला नाटक 'भारतमाता' का भारतेन्दु जी के मित्र ने अनुवाद किया था जिसे उन्होंने संशोधित किया। चूंकि संशोधित नाटक का सम्पूर्ण रूप ही बदल गया था, इसलिए उसने अपना नाम इसके मुख्य पृष्ठ पर देना उचित नहीं समझा। कुछ विद्वान इसे भारतेन्दु जी की मौलिक रचना मानते हैं।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण

नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषध म्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्रय' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्जवल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथाश्रृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनुदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल

हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) पौराणिक धारा–इसकी तीन उपधाराएं–(1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा

'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा–ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा–भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा–रीतिकाल कीशृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में

विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा–राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में प्रकट हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता

का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अत: कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–

1. साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),
2. मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)।

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे–पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलतः नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है रू पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनुदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों को निःसंकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं–कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912),

उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें–गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यवसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्प्रफेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनुदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनुदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का ध्यान बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनुदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रूवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रागंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

प्रसाद-युगीन नाटक

जयशंकर प्रसाद ने हिंदी नाटक को प्रौढ़ता प्रदान की है। उपन्यास साहित्य में जो क्षेत्र प्रेमचंद का है, नाटक रचना में वही स्थान प्रसाद जी का है। इनके हाथों से हिंदी नाटक के क्षेत्र में एक अभूत पूर्व परिवर्तन हुआ। प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना किये, जिनका विवरण इस प्रकार है। सज्जन, कल्याणी, परिणय, करुणालय, प्रस्थित, राज्यश्री, वैशाख, अजातशत्रु, कामना, जन्मेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूँट, चन्द्र गुप्त, ध्रुवस्वामिनी।

प्रसाद ने अपने नाटकों का विषय भारत के गौरवपूर्ण इतिहास से ग्रहण किया है, उन्होंने इसके पात्र भी अतीत से ग्रहण किया है। अपने प्रत्येक नाटक में एक न एक उत्कृष्ट नारी चरित्र की उद्‌भावना की। शिल्प के क्षेत्र में उन्होंने भारतीय एवं पश्चिम पद्धतियों के मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। चन्द्रगुप्त इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं, उसमें प्रसाद जी को नाट्यकला का सर्वश्रेष्ठ रूप दृष्टिगत होता है। नाटक में गीत सृजन इनकी नाट्यकला की एक विशेषता है। प्रसाद युग में कई उत्कृष्ट नाटकों की रचना हुई, जिसमें मुख्य है –माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन, गोविन्द बल्लब पन्त के वरमाला, राजमुकुट, उग्र जी का महात्मा ईशा, मुंशी प्रेमचंद के कर्बला, संग्राम आदि।

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्त्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो ह्रास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां–सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी –परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं, परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है। और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानीय बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अत: इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीनसाम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रति:प है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक

कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धिक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता की शृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुर्नविवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवाहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने

अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। फिर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखत: शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवत: भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वत: उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलत: कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। फिर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और

रंगमंचीयता का समन्वय ही उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक–पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधाराके अन्तर्गत कृष्ण चरित–राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गईं इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं–अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय–कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा–कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद–कृत–'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा–कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि–कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी–कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग–कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी–कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध–कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास–कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति–नाटकीय और अति–मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें फिट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधारलेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र–कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911),

भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद घायल-कृत 'भारत गौरव' और 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्य कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकों की रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933)

रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों – बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक

प्रसाद के उपरान्त इस परंपरा ने विशेष बल पकड़ा और उसकी अनेक धाराएँ हो गयी। इन धाराओं का निम्नलिखित संक्षिप्त विवेचन हैं –

ऐतिहासिक नाटक –

ऐतिहासिक नाताकारों में हरिकृष्ण प्रेमी, वृंदावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, जगदीश चन्द्र माथुर आदि उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में प्रमुख है, रक्षाबंधन, शिवासाधना, प्रतिशोध, आहुति, स्वप्न भंग, विषपान शपथ। वृन्दावनलाल वर्मा ने राखी की लाज, कश्मीर का काँटा, झाँसी की रानी, हंस मयूर, बीरबल आदि तथा जगदीशचंद्र माथुर ने कोणार्क एवं शारदीय की रचना कर इस परम्परा को आगे बढाया।

समस्यामूलक नाटक –

इक्सन और बर्नाड शॉ से प्रभावित होकर हिंदी में भी अनेक समस्या मूलक नाटकों की रचना हुई है। जिसमें मुख्य इस प्रकार है –श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने झलक, कैद, उड़ान आदि। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, सिंदूर की होली, आधी रात, गुड़िया का घर, वत्सराज आदि। सेठ गोविन्द दास ने हर्ष, प्रकाश, कर्तव्य, सेवापथ, दुःख क्यों, बड़ा पापी कौन आदि लिखा है।

इनमें मिश्र जी का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। समस्याओं के साथ पात्रों की मन स्थिति तथा द्वन्द का भी इन्होने यथार्थ चित्रण किया है। सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकों की समस्याओं को तल दृष्टि से देखा है। चरित्र चित्रण तथा रंग

मंच की दृष्टि से इनके नाटक अच्छे हैं। अश्क के नाटकों में सामाजिक जीवन की समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण मिलता हैं। इन्हें रंगमंच की आवश्यकता का पूर्ण ज्ञान हैं। मोहन राकेश बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार है।किंतु नाटककार के रूप में उनका स्थान सर्वोपरी है।आधुनिक हिन्दी नाटक के विकास यात्रा में 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे –अधूरे' ने महत्वपूर्ण योगदान निभाया है।उन्होंने अपनी मौलिक दृष्टि, भावपूर्ण संवेदना तथा जीवन के अनुभव –वैविध्य के आधार पर हिन्दी नाटक को कथ्य एवं शिल्प पर परंपरागत दृष्टिकोण से मुक्त कर विकास के नये आयामों से परिचित कराया।रंगमंच की दृष्टि से मोहन राकेश का आषाढ़ का एक दिन' नाटक सर्वोत्तम हैं। इसीलिए रंगमंच के लिए उक्त नाटक अनुकूल है।

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलत: आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मद्धिम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद्‌पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते

हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धिकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएं थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलत: राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अत: उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धिक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धिक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रफायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धिक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धिकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धिवादी दृष्टिकोण

अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्रायः इस प्रकार परितप्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यतः कोई दृष्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृष्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धिक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं-'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938, 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्रायः सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का

श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा – सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और

मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्दका 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने बालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं रू 'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं फ्रायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धिक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक

उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धिक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नहीं करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धित तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अंतर्द्वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआऔर धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अर्द्ध-सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्त्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में

संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य–सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं – 'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्रयू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य–जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी' नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य–संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य–मुख' में महाभारत–युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कर्फ्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन–मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे–अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी–नाटक को एक नवीन गति–दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल–संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर

आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्त्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुंचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुंच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

राम लीला

रामलीला उत्तरी भारत में परम्परागत रूप से खेला जाने वाला राम के चरित पर आधारित नाटक है। यह प्रायः विजयादशमी के अवसर पर खेला जाता है।

रंगमंचीय दृष्टि से रामलीला तीन प्रकार की हैं –सचल लीला, अचल लीला तथा स्टेज लीला। काशी नगरी के चार स्थानों में अचल लीलाएँ होती हैं। गो. तुलसीदास द्वारा स्थापित रंगमंच की कई विशेषताओं में से एक यह भी है कि स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादकता और मनोहरता की सृष्टि के लिए, अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, लंका आदि अलग-अलग स्थान बना दिए गए थे और एक स्थान पर उसी से संबंधित सब लीलाएँ दिखाई जाती थीं। यह ज्ञातव्य है कि रंगशाला खुली होती थी और पात्रों को संवाद जोड़ने घटाने में स्वतंत्रता थी। इस तरह हिंदी रंगमंच की प्रतिष्ठा का श्रेय गो. तुलसीदास को और इनके कार्यक्षेत्र काशी को प्राप्त है।

जात्रा

जात्रा, पश्चिम बंगाल का प्रसिद्ध लोकनृत्य है। लोक नृत्य में जात्रा भारत के पूर्वी क्षेत्र का लोक कलामंच का एक लोकप्रिय रूप है। यह कई व्यक्तियों

द्वारा किया जाने वाला एक नाट्य अभिनय है जिसमें संगीत, अभिनय, गायन और नाटकीय वाद विवाद होता है। पहले जात्रा के सशक्त माध्यम के जरिए जनसमूह को धार्मिक मान्यताओं की जानकारी दी जाती थी। उड़िया और बंगाली जात्रा का जन्म काफी पहले हुआ था और इतिहास के जानकारों तथा साहित्य के आलोचकों के बीच इसके विषय में विभिन्न विचार हैं। तथापि उन्होंने नाट्य शास्त्र में जात्रा के लेख पर ध्यान आकर्षित किया है, जो नृत्य की कला और विज्ञान का मुख्य ग्रंथ है। उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में नाटकीय प्रस्तुतीकरण की शुरुआत में भी योगदान दिया है जो जयदेव के गीत गोविंदम' में है।

गायन शैली

बंगाल में एक प्रकार की गायन शैली करिया है, जो नौवी से बारहवीं शताब्दी के बीच लोकप्रिय थी। अमर कोस पर दिए गए वृतांत में इसके अस्तित्त्व का उल्लेख मिलता है और इनके कुछ खण्ड ताम्र पत्रों में भी पाए गए हैं। इन गीतों की भाषा को उन लोगों के वर्ग का सृजन माना गया है, महायान बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इसमें बुद्ध नाटक के संदर्भ भी मिलते हैं। इस साक्ष्य से कोई निश्चित कटौती नहीं की जा सकती, फिर भी यह स्पष्ट है कि यह एक प्रकार का संगीतमय नाटक था, जो संभवतया उस समय प्रचलित था। इस अवधि के दौरान उड़ीसा में करिया पद लोकप्रिय थे।

चैत्यन्य जो एक समाज सुधारक थे और उनके अनुयायियों ने इन्हें दोबारा जीवित करने में योगदान दिया और वे उस समय सांस्कृतिक स्तर पर भारत के अनेक हिस्सों में राष्ट्रीय एकता लाने के लिए उत्तरदायी थे जब सभी भारतीय क्षेत्र राजनीतिक और आर्थिक संकट से प्रभावित थे। वे सृजक थे, वे नाटक के निर्देशक थे और धार्मिक –सामाजिक प्रयोजन के लिए नाटक के स्वयं सचेत वाहक हुआ करते थे। इतिहास गवाह है कि वे नाटकीय परिप्रेक्षेप में इसकी प्रथम निश्चित प्रस्तुति थे, जहां चैत्यन्य ने स्वयं रूक्मणी का अभिनय किया था। तब संभवतया यह कृष्ण जात्रा की शुरुआत थी। अत: वे नि:संदेह रूप से बंगाल और उड़ीसा की समकालीन यात्रा के पूर्ववर्ती थे।

नाटक लिखने की शैली

आज जात्राओं के लिए नाटक लिखने की शैली में अनेक बदलाव हुए हैं। अब जात्रा के नाटक केवल धार्मिक, ऐतिहासिक या काल्पनिक विषयों पर

सीमित नहीं हैं। उनमें आधुनिक रुचि के लिए उपयुक्त सामाजिक विषयवस्तु भी जोड़े गए हैं।

प्रस्तुतीकरण

जात्रा एक सादे मंच पर की जाती है जिसके चारों ओर दर्शक होते हैं। सामूहिक गीत गायक और संगीतकार मंच पर अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। इस पर मंच संबंधी कोई आडम्बर नहीं होता, यहाँ केवल बैठने का एक स्थान होता है जो विभिन्न कार्यक्रमों में एक सिंहासन, एक बिस्तर या किनारे रखी बैंच के तौर पर कार्य करता है। मंच पर अभिनेता अत्यंत सैद्धांतिक रूप में गीतशील होते हैं। वे अपनी ऊँची आवाज में भाषण देते हैं और उन्हें इतनी तेजी से बोलना होता है कि चारों ओर बैठे दर्शक उनकी आवाज सुन सकें। परिणाम स्वरूप वे एक अत्यंत उत्तेजित शैली में बोलते हैं और उनकी हाव भाव भी उसके अनुसार होते हैं। उनकी वेशभूषा चमकदार और उनकी तलवारें चकाचौंध पैदा करती हैं और जल्दी ही उनके शब्दों के साथ संघर्ष शुरू हो जाता है। कभी कभार ये अभिनेता भावनात्मक मन:स्थिति को दर्शाते हैं जैसे कि प्रेम, दुख, करुणा, किन्तु इन सभी में उत्तेजना का तत्त्व हमेशा मौजूद होता है क्योंकि उन्हें अपने आप को जीवन से बड़े आकार में प्रस्तुत करना होता है।

तमाशा

तमाशा भारत के लोक नाटक काशृंगारिक रूप है, जो पश्चिम भारत के महाराष्ट्र राज्य में 16वीं शताब्दी में शुरू हुआ था। अन्य सभी भारतीय लोक नाटकों में प्रमुख भूमिका में प्राय: पुरुष होते हैं, लेकिन तमाशा में मुख्य भूमिका महिलाएँ निभाती हैं। 20वीं सदी में तमाशा व्यावसायिक रूप से बहुत सफल हुआ। तमाशा महाराष्ट्र में प्रचलित नृत्यों, लोक कलाओं इत्यादि को नया आयाम देता है। यह अपने आप में एक विशिष्ट कला है।

शुरुआत

तमाशा नाटक का ही एक रूप है। इसकी शुरुआत महाराष्ट्र में 16वीं सदी में हुई थी। यह लोक कला यहाँ की अन्य कलाओं से थोड़ी अलग है। तमाशा शब्द का अर्थ है–मनोरंजन। कुछ शोधकर्ताओं का मानना है कि संस्कृत के नाटक रूपों–प्रहसन और भान से इसकी उत्पत्ति हुई है। इस लोक कला के माध्यम से

महाभारत और रामायण जैसी पौराणिक कथाओं को सुनाया जाता है। इसमें ढोलकी, ड्रम, तुनतुनी, मंजीरा, डफ, हलगी, कड़े, हारमोनियम और घुँघरुओं का प्रयोग किया जाता है।

स्थान

मुख्य रूप से तमाशा महाराष्ट्र के कोल्हाटी' समुदाय द्वारा किया जाता है। इस कला को प्रस्तुत करने के लिए किसी मंच इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है। इसे किसी भी खुले स्थान पर किया जा सकता है।

कृष्ण संबंधी कथाएँ

तमाशा के शुरू होते ही सबसे पहले भगवान गणेश की वंदना की जाती है। इसके बाद गलवाना या गौलनियर गाए जाते हैं। मराठी धर्म-साहित्य में ये कृष्णलीला के रूप हैं, जिसमें भगवान कृष्ण के जन्म की विभिन्न घटनाओं को दर्शाया जाता है।

चरित्र

नृत्यश्रृंखलाओं के अलावा तमाशा में नटुकनी, सौंगद्या और अन्य चरित्रों द्वारा अनेक प्रकार के शब्दिक कटाक्षों और कूट प्रश्नों द्वारा वाद-प्रतिवाद भी किया जाता है। नटुकनी का चरित्र महिलाएँ निभाती हैं। इस लोक कला में यमन, भैरवी और पिलु हिन्दुस्तानी राग मुख्य रूप से प्रयोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लोक गीतों का भी प्रयोग किया जाता है। इसके अंत में सदैव बुराई पर अच्छाई और असत्य पर सत्य की विजय का संदेश दिया जाता है।

नौटंकी

नौटंकी उत्तर भारत, पाकिस्तान और नेपाल के एक लोक नृत्य और नाटक शैली का नाम है। यह भारतीय उपमहाद्वीप में प्राचीनकाल से चली आ रही स्वांग परम्परा की वंशज है और इसका नाम मुल्तान (पाकिस्तानी पंजाब) की एक ऐतिहासिक नौटंकी नामक राजकुमारी पर आधारित एक शहजादी नौटंकी नाम के प्रसिद्ध नृत्य-नाटक पर पड़ा। नौटंकी और स्वांग में सबसे बड़ा अंतर यह माना जाता है कि जहाँ स्वांग ज्यादातर धार्मिक विषयों से ताल्लुक रखता है और उसे थोड़ी गंभीरता से प्रदर्शित किया जाता है वहाँ नौटंकी के मौजू प्रेम और वीर-रस

पर आधारित होते हैं और उनमें व्यंग्य और तंज मिश्रित किये जाते हैं। पंजाब से शुरू होकर नौटंकी की शैली तेजी से लोकप्रिय होकर पूरे उत्तर भारत में फैल गई। समाज के उच्च-दर्जे के लोग इसे सस्ता' और अश्लील' समझते थे लेकिन यह लोक-कला पनपती गई।

इतिहास और विकास

अधिकतर समीक्षकों का मानना है कि नौटंकी स्वांग शैली का ही एक विकसित रूप है,। नौटंकी की कथाएँ अक्सर किसी व्यक्ति पर या महत्वपूर्ण विषय पर होती हैं, मसलन आल्हा-ऊदल की नौटंकी। इसी तरह, 'सुल्ताना डाकू' की नौटंकी इसी नाम के उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में हुए एक डाकू की कहानी बताती है। भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उस विषय पर बहुत सी नौटंकियां हुई थी जिन्होंने जन-साधारण को इस संग्राम में शामिल होने की प्रेरणा दी। आजकल दहेज-कुप्रथा, आतंकवाद और साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़ों के विरुद्ध नौटंकियाँ देखी जा सकती हैं। दर्शकों की रूचि बनाए रखने के लिए नौटंकियों में अक्सर प्रेम-सम्बन्ध के भी कुछ तत्त्व होते हैं जिनका प्रयोग अश्लीलता के लिए भी किया जा सकता है। इसलिए बहुत सी अश्लील नौटंकियाँ भी डेढ़-सौ साल से चलती आ रहीं हैं, जिस से अक्सर नौटंकी की शैली बदनाम भी होती आई है। पारम्परिक रूप से नौटंकियों में पैसा बनाने के लिए यह जरूरी था कि दर्शकों को कभी भी ऊबने न दिया जाए, इसलिए अधिकतर नौटंकियों में 10 मिनट या उस से कम अवधि की घटनाओं को एक सिलसिले में जोड़कर बनाया जाता है जिसमें हर भाग में दर्शकों की रूचि बनाए रखने की कोशिश की जाती है। कहानी दिलचस्प रखने के लिए वीरता, प्रेम, मजाक, गाने-नाचने और धर्म को मिलाया जाता है और कथाकार प्रयास करता है की दर्शकों की भावनाएँ लगातार ऊपर-नीचे हों और बदलती रहें।

यक्षगान

यक्षगान कर्नाटक राज्य का लोक नृत्य है। यक्षगान कर्नाटक का पारम्परिक नृत्य नाट्य रूप है जो एक प्रशंसनीय शास्त्रीय पृष्ठभूमि के साथ किया जाने वाला एक अनोखा नृत्य रूप है। लगभग 5 शताब्दियों की सशक्त नींव के साथ यक्षगान लोक कला के एक रूप के तौर पर मजबूत स्थिति रखता है, जो केरल के कथकली के समान है। नृत्य नाटिका के इस रूप का मुख्य सार धर्म के साथ

इसका जुड़ाव है, जो इसके नाटकों के लिए सर्वाधिक सामान्य विषय वस्तु प्रदान करता है। जन समूह के लिए एक नाट्य मंच होने के नाते यक्षगान संस्कृत नाटकों के कलात्मक तत्वों के मिले जुले परिवेश में मंदिरों और गांवों के चौराहों पर बजाए जाने वाले पारम्परिक संगीत तथा रामायण और महाभारत जैसे महान् ग्रंथों से ली गई युद्ध संबंधी विषय वस्तुओं के साथ प्रदर्शित किया जाता है, जिसे आम तौर पर रात के समय धान के खेत में निभाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में धार्मिक भावना की सशक्त पकड़ होने से इसकी लोकप्रियता में अपार वृद्धि हुई है, जिसे इन स्थानों पर इनमें शामिल होने वाले कलाकारों को मिलने वाला उच्च सम्मान पूरकता प्रदान करता है।

स्वर्गिक संगीत के साथ आलंकारिक महत्व के विपरीत वास्तव में स्वर्गिक और पृथ्वी के संगीत का एक अनोखा मिश्रण है। यह कला रूप अस्पष्टता और ऊर्जा के बारीक तत्वों का कला रूप अपने प्रस्तुतीकरण में दर्शाता है, जो नृत्य और गीत के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है, इसमें चेंड नामक ड्रम बजाने के अलावा कलाकारों के नाटकीय हाव भाव सम्मिलित होते हैं। इसे प्रदर्शित करने वाले कलाकार समृद्ध डिजाइनों के साथ चटकीले रंग बिरंगे परिधानों से स्वयं को सजाते हैं, जो कर्नाटक के तटीय जिलों की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा पर प्रकाश डालते हैं।

भिखारी ठाकुर एवं लोकनाट्य के विविध रुप

भिखारी ठाकुर का जन्म 18 दिसम्बर 1887 को बिहार के कुतुबपुर नामक गांव में हुआ था। बहुमुखी प्रतिभा के धनी भिखारी ठाकुर कवि,गायक, गीतकार, नाट्य निर्देशक, संगीतकार होने के साथ साथ कुशल अभिनेता भी थे। लोक कवि एवं नाटककार भिखारी ठाकुर भोजपुरी समाज साहित्य के समर्थ प्रचारक एवं संवाहक थे। उनकी रचनाओं में भोजपुरिया संस्कृति सुरक्षित है। विदेशी शासन के समय अपनी नाट्य मंडली स्थापित कर जनता के सुख–दुख की अभिव्यक्ति देना भिखारी ठाकुर की अदभुत संगठन शक्ति तथा उर्जा का परिचायक है। एक सच्चे कलाकार के रूप में वे राष्ट्रीय अस्मिता के रक्षक एवं पहरेदार थे। (प्रस्तावना हि. सा. का बृ. इतिहास) भिखारी ठाकुर की प्रतिभा से प्रभावित हो कर राहुल सांकृत्यायन ने उन्हे अनगढ हीरा कह कर संबोधित किया था। श्री महेश्वराचार्य जी, भिखारी ठाकुर के बारे में कहते हैं– "भिखारी की शोभा मंच पर होती थी। वह मंच के बादशाह थे। स्वांग के क्षेत्र में उतर कर वह किसी

भी विषय का जीता जागता रुप खड़ा कर देते थे। अभिनय में प्राण भर देते थे। जिन्होने मात्र उनकी पुस्तिकाओं का ही अवलोकन किया है वे नाटककार भिखारी को पूरा पूरा नहीं जानते। जानते हैं वे जिन्होने (भिखारी को जीवितावस्था में) उनके नाटकों को मंच पर देखा है।"

उन्होंने कुल उनत्तीस पुस्तिकाओं की रचना की थी 1. बिरहा 2. राधेश्याम बहारनाटक 3. बेटी वियोग 4. कलियुग प्रेमनाटक 5. गरबर घिचोर नाटक 6. भाई विरोध नाटक 7. श्रि गंगा स्नान नाटक 8. पुत्र वध नाटक 9. नाई बहार 10. ननद भौजाई संवाद 11. भाड के नकल 12. बहरा बहार नाटक 13. नवीन विरहा नाटक 14. भिकारी शंका समाधान 15 भिखारी हरिकिर्तन 16. यशोदा सखी संवाद 17. भिखारी चौयुगी 18. भिखारी पुस्तिका सुची 19. भिखारी चौवर्ण पदवी 20. विधबा विलाप नाटक 21. भिखारी भजनमाला 22. गुडशाला के बयान 23. श्री माता भक्ति 24. श्रि नाम रतन 25 राम नाम माला 26 सीता राम परिचय 27. नव नव अवतार 28. एक आरती दुनियाभर के 29. बिदेशिया।

बिदेशिया की लोकप्रियता ने उन्हे अमर कर दिया। तत्कालीन समाज में व्याप्त प्रमुख समस्याओं को भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों का विषय बनाया। अपने जीवन के प्रारंभिक तीन वर्षों में बिहार, बंगाल उत्तर प्रदेश, नेपाल आदि में प्रचलित लोकनाटक की अधिकांश विधाओं का अध्ययन कर अपने लोक नाट्य में उन विधाओं का प्रयोग किया। रामलीला,रासलीला, जात्रा, भांड, धोबी, नेटुआ, गौड आदि लोकनाट्य विधा उनके प्रिय क्षेत्र थे।

भारतेंदुयुग के समकालीन भिखारी ठाकुर ने लोकनाट्य क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये। उन्होने अपने नाटकों में मंगलाचरण, सूत्रधार जैसे परंपरागत नाट्यशैली में कुछ परिवर्तन कर अपने नाटकों में उनका प्रयोग किया। इतना ही नहीं लोकनाटक में मुक्त मंच प्रयोग करने का श्रेय भिखारी ठाकुर को जाता है (लोक नाट्य खुले हुए रंग मंच पर अभीनित किए जाते हैं। जनता मैदान में आकाश के नीचे बैठकर नाटक का अभिनय देखती है। नाटकों के लिए किसी मंदिर के आगे का उंचा चबूतरा या टीला ही रंगमंच के रुप में प्रयोग किया जाता है। इन रंगमंचों पर कोई पर्दे नहीं होते। सारी कथा लगातार बिना दृश्य परिवर्तन के मंच पर प्रदर्शित किये जाते हैं।

ठेठ भोजपुरी भाषा के प्रचार प्रसार में भिखारी ठाकुर का अपूर्व योगदान था। अपने समय में भिखारी ठाकुर और भोजपुरी एक दूसरे के पर्याय बन गये थे। अपने भोजपुरी समाज की विशेषता के साथ साथ उसकी कमियों विशेषकर

वर्ण व्यवस्था की त्रासदी को भोगते हुए भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों द्वारा समाज की जाति व्यवस्था पर प्रहार करते हुए शोषित, दलित, नारी तथा गरीबगुरबों को अपने नाटकों का केंद्रिय विषय बनाया। भिखारी ठाकुर स्वयं नाई जाति के थे। निम्नजाति का होने के कारण भोजपुरिया समाज की क्रूर जाति व्यवस्था के दंश को उन्होने झेला था। यह भी एक वजह है कि उन्होंने अपने नाटकों में वर्ण भेद को कई बार मुख्य विषय बनाया। उन्होने सिर्फ स्थनीय विषयो को ही नहीं उठाया अपितु राष्ट्रीय स्तर की समस्याओ को भी अपने लोकनाट्को में स्थान देकर सच्चे राष्ट्रभक्त होने का प्रमाण प्रस्तुत किया है।इतना ही नहीं बिना किसी राजनीतिक पार्टी से जुड़े अपने नाटकों के माध्यम से विदेशी सरकार के खिलाफ लड़ने के लिए जनमानस को तैयार करने में भी उन्होने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।कहा जाता है कि गांधी द्वारा चलाए गए नशावर्जन अभियान को असरदार बनाने में उनके नाट्क 'कलियुग प्रेम भा पिया निसइल' का जबर्दस्त योगदान था। लोकमन के रचयिता भिखारी की लोकप्रियता भोजपुरी, मगही, मैथिली से विस्तार पाती हुई अलग अलग प्रांत में फैलने लगी। अपनी लोकप्रियता के बल पर उन्होने भोजपुरी क्षेत्र में भारतेंदु के समकक्ष प्रसिद्धि अर्जित की। उनकी लोकप्रियता को देखते हुए राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है –हमनी के बोली में कितना जोर हबे, केतना तेज बा ई अपने सब भिखारी ठाकुर में देखिले। लोग के काहे निमन लागेला भिखारी ठाकुर के नाटक? काहे दस दस पनरह पनरह हजार के भीड़ होला ई नाटक के देखे खातिर? मालुम होत ह कि एक एहि नाटक में ..... हम ई न कह तानी जे भिखारी ठाकुर के नाटक में दोष नइखे। दोष बा त वोकर कारण भिखारी ठाकुर नइखन, वोकर कारण हबे पढुआ लोगन। उ लोग जे अपन बोली से नेह लगाबत भिखारी ठाकुर के नाटक देखत अओ ने कौनो बात सुझाबत त ई कुल दोष मिट जात। भिखारी ठाकुर हमनी के एगो अनगढ हिरा हबे। उनकरा में कुल गुन बा खाली एने, ओने, तनि, तुनि छाटे के काम हबे।

(हमारी बोली में कितनी तागत है तेजी है यह सब हमे भिखारी ठाकुर के नाटक में दिखता है। लोगो को भिखारी ठाकुर का नाटक क्यों अछा लगता है? क्यों दस दस पंद्रह पंद्रह हजार की भीड़ जुटती है भिखारी ठाकुर के नाटक के देखने के लिए? मालूम होता है कि एक इसी नाटक में। ..हम यह नहीं कह रहे हैं कि भिखारी ठाकुर के नाटक में दोष नहीं है। अगर दोष है तो उसका कारण भिखारी ठाकुर नहीं है उसका कारण पढे–लिखे लोग हैं। पढे–लिखे लोग अगर

अपनी बोली से स्नेह करते, भिखारी ठकुर के नाटक देखकर अपनी राय देते तो उनका दोष मिट जाता। भिखारी भोजपुरी का एक अनगढ हीरा है। उनमें सभी गुन है केवल थोडी बहुत छांटने की जरुरत है।)

यह उल्लेखनीय है कि भोजपुरी साहित्य का विकास हिंदी साहित्य के समानांतर और स्वतंत्र ढंग से हुआ किंतु हिंदी साहित्य के इतिहासकारो ने हिंदी साहित्य के विकास को मैथिली, ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी साहित्य तक सीमित करके देखा। भोजपुरी साहित्य के सम्बंध में इतिहासकारो की दृष्टि उपेक्षणीय रही शायद इसी कारण हिंदी साहित्य के विकास में भोजपुरी साहित्य को जगह नहीं दी गई जबकि भक्तिकाल या मध्यकाल में भोजपुरी साहित्य एक उन्नत साहित्य के रुप में स्थापित हो चुका था। कबीर और अन्य भक्तिकालीन कवियों का साहित्य इस बात का प्रमाण है। मैनेजर पांडे के अनुसार जिस समय इन भाषाओं(ब्रज और अवधी) में साहित्य लिखे जा रहे थे भोजपुरी में भी काव्य रचना हो रही थी। मध्यकाल के भक्त कवियों की भाषा पर भोजपुरी प्रभाव इस बात का प्रमाण है। लेकिन रामचंद्र शुक्ल और श्याम सुंदरदास ने इसे पुरवी बोली कहकर भोजपुरी से अलग कर दिया। भोजपुरी साहित्य (कविता) मुख्यत: लोक का साहित्य(कविता)है जो भक्ति काव्य परंपरा से होती हुई (लोक साहित्य)आधुनिक कविता में विकसित होती है। मैंनेजर पांडे आगे लिखते हैं –उन्नीसवी सदी में भोजपुरी कविता में आधुनिक चेतना की अभिव्यक्ति दो रुपों में दिखाई देती है। उन्नीसवी सदी में पूंजीवाद के साधन के रुप में रेलवे के आने से गांव की जिंदगी बहुत प्रभावित हुई और मानवीय संबंधों का पुराना ताना बाना भी छिन्न–भिन्न हुआ इसलिए उसके विरोध की चेतना जन जीवन में जगी जिसकी अभिव्यक्ति भिखारी ठाकुर के बिदेशिया में देखने को मिलती है।

यह वही युग था जिसमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनमत तैयार होने लगा था। यह युग भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन के उत्कर्ष का युग था या कहें लोक दवाब का काल था। इस समय का रचनाकार साहित्य में जाति, वर्ग, संप्रदाय महाजनी–सभ्यता का विरोध कर साधारण जन के अधिकारों की पुरजोर वकालत कर रहा था विशेषकर नारी और दलितों का पक्ष लिया जा रहा था। इसके लिए साहित्य में लोक की समस्या को लोकभाषा, लोकगीत, लोक में प्रचलित छंद, संगीत को अपना माध्यम बनाकर ही व्यक्त किया जा रहा था। इस प्रकार लोक को प्रभावित कर समाज–सुधार आंदोलनो ने शास्त्र और लोक को जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पुनर्जागरण आंदोलन एवं समाज सुधार

आंदोलन शास्त्र को लोक से जोड़ने वाले आंदोलन थे। इसलिए हिंदी पुनर्जागरण की चेतना को मात्र शहरी अभिजात्य वर्ग के साथ जोड़कर देखना भूल होगी। इस बात को इस उदाहरण से समझा जा सकता है –भारत में जब रेलवे का विस्तार 1853 में हुआ तो उसका सबसे ज्यादा विरोध ग्रामीण चेतना में हुआ क्योंकि उसने भारतीय ग्रामीण व्यवस्था को बुरी तरह से प्रभावित किया था। इस घटना को लेकर लोक के भीतर नीहीत पुनर्जागरण कालीन आधुनिक चेतना के फलस्वरुप भोजपुरी क्षेत्रों में बिदेशिया का यह लोकगीत बेहद प्रचलित हुआ।

रेलिया न बैरी जहजिया न बैरी
से पैसबा बैरी ना
सैंया के ले गइल बिदेसबा से पैसबा बैरी ना

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिंदी पुनर्जागरण आंदोलन की चेतना एकांगी न हो कर बहुविध है इसके एक रुप न होकर सहस्त्र रुप है। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में द्विवेदी युग के रुप में उभरे साहित्यिक आंदोलन में जब कविता में छंद, व्याकरण, शुद्धि –अशुद्धि, लोक शब्दों की जगह हिंदी के क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग, अभिजात एवं शास्त्रीय उपकरणों पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा तो शास्त्र और लोक के बीच खाई बढ़ने लगी और लोक का शास्त्र से मोह भंग हुआ। इसी मोह भंग से अनेक लोक कवियों का उदय हुआ। जिन्होंने अपने क्षेत्र में सर्वाधिक लोकप्रियता पाई। ये लोक कवि जन के मन की भावनाओं, उनकी क्रिया प्रतिक्रियाओं की अत्यंत ईमानदार अभिव्यक्ति दे रहे थे इसलिए इनका जनाधार अत्यंत मजबूत था। इन्हीं लोक कलाकारों के लोकगीतों छंदों, नाट्यों को जनसमाज में विशेष स्थान पाते देख उस समय में भारतेंदु एवं उनके मंडल के साहित्यकारों ने इन विधाओं को अपनाया। लोक बोलियों की असीम ताकत और लोक संगीत की असीम सम्प्रेषण शक्ति के कारण शिष्ट साहित्यकारों का इस ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। भोजपुरी का लोकसाहित्य अत्यंत समृद्ध माना जाता है चाहे वह गद्य हो या पद्य। भिखारी ठाकुर के लोकनाटक घर–परिवारों की कहानी के साथ सामान्य जन की चतुराई की कथा का नाट्य रूपांतरण है।

भारतेंदु के समकालीन लोकसाहित्य के प्रमुख कलाकार भिखारी ठाकुर (1887–1971) ने लोककाव्यात्मक शैली में नाटकों का सृजन किया। विदेसिया की रचना 1915 में हुई। इनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनमें भारतीय राष्ट्रवाद पर उपनिवेशवाद द्वारा खड़ा किए गए राजनीतिक, आर्थिक तथा

सांस्कृतिक तीनों चुनौतियों का सामना करने का साहासिक चेतना मौजूद है। विदेशिया उनकी प्रतिनिधि रचना है। पुनर्जागरण के प्रभावस्वरुप उपनिवेशवाद के पूंजीवाद के विरुद्ध विरोध का स्वर बिदेशिया का प्रमुख उद्देश्य है। इस लोकनाट्क में नवविवाहिता पत्नी को छोड कर पति के विदेश चले जाने की विवशता एवं पत्नी के एकांकी रह जाने के दंश को बड़ी जीवंतता के साथ चित्रित किया गया है। औपनिवेशिक आर्थिक दबाव ने नवविवाहिता से उसके पति का सुख छीन लिया है इसलिए वह अपने पति को बिदेशिया कह कर लांछन देती है। इस नाटक के संबंध में विदेशिया के मिथक की कई व्याख्याएं है। विदेशिया के मिथक के माध्यम से अंग्रेजी औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध उपालम्ब को लक्षित किया जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि इन लोक रचानाकारों के भीतर निहित स्वत: स्फूर्त चेतना उन्हें ज्यादा ईमानदारी से अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरुद्ध रचनात्मक लड़ाई लडने को बाध्य कर रही थी– या कहे इन लोकरचनाकारों के भीतर राज भक्ति या राष्ट्रभक्ति का द्वंद नहीं था। इस कारण इन रचनाकारो ने पूंजीवादी व्यवस्था के फलस्वरुप रुपये पैसे पर टिकी लाभ लोभ की व्यवस्था का निर्भयता के साथ विरोध करने का साहस दिखाया और यही इनकी रचनाओं का प्रमुख स्वर भी बना। इसके अतिरिक्त भारतीय मूल्यों परंपराओं के संबर्धन हेतु लोकनाटककार भिखारी ठाकुर ने अपने नाटक विदेसिया में एक रुपक का भी प्रयोग किया है। यह प्रभाव नि:संदेह सूफी परंपरा से ग्रहण किया गया लगता है। रुपक का पाठ आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देता है कि नाटक की कहानी से इसका कोई संबंध नहीं है। नाटक की रसानुभूति पाठक/दर्शक अपने अपने तरीके से करने के लिए स्वतंत्र है। सूत्रधार कहता है कि इस तमाशा में चार पात्र होंगे–विदेशी, प्यारी सुंदरी,बटोही, रखेलिन। बटोही धर्म का प्रतीक है, रखेलिन माया का और प्यारी सुंदरी जीव का प्रतीक है। पति का अपनी पत्नी को छोड़ कर विदेश चले जाना और रखेलिन के प्रेमपाश में पड़कर लौटकर न आना उसी तरह है जिस तरह परमात्मा रखेलिन स्त्री (माया) के कारण आत्मा को छोड़ देता है। किंतु बटोही (धर्म) की मध्यस्तता से ही आत्मा फिर परमात्मा से मिल सकती है। इस रुपक के जरिए बताने की कोशिश की गई है कि पारंपरिक मूल्य व्यवस्था के आधार तमाम सामाजिक नियम निश्चय ही ध्वस्त हो जाते है, लेकिन इन टकरावों को रोजमर्रा के जिंदगी के हिस्से के बतौर समझा जाए तो इनसे कुछ समस्याएं पैदा होती है। वहरहाल इन टकरावों की नाटकीय प्रस्तुति को आप चाहें पुरुष और स्त्री के बीच टकराव माने

या अलग अलग मूल्यों के बीच टकराव माने। दोनो ही स्थितियों में तथ्यात्मक विमर्श के रुप में और अनुभव सिद्ध घटना के रुप में भी यह तय करना कभी संभव नहीं हो पाता कि इन दोनो संभावनाओं में से कौन सी सही है। इसी अनिर्णय के कारण अत्यधिक कठोर अपराधों को भी क्षमा करना संभव हो जाता है। क्योंकि कथा के स्तर पर यह अपराध और अनपराध की सीमाओं के बाहर चला जाता है। यह नाटक ग्रामीण लोकजीवन की प्रतिमूर्ति उन समस्त स्त्रियों की वेदना का दस्तावेज है जो वर्षों पति के परदेश जाने के बाद अकेले पड़ जाने के दंश को सहने के लिए अभिशप्त होती है–

पिया मोर गइलन परदेश ये बटोही भैया
रात नहीं नीन, दिन तनके चैनबा

विदेश गए पति के वियोग को सहती हुई स्त्रियों के दर्द का साक्ष्य विदेशिया इन अर्थों में आज भी प्रासंगिक नाटक है। अपनी सफलता और प्रसिद्धि के द्वारा विदेशिया आज एक स्वतंत्र नाट्यशैली के रुप में जाना जाता है। भिखारी ठाकुर के समय नेटुआ और जोगिरा पारंपरिक लोकनाट्य के रुप में प्रचलित थे लेकिन भिखारी ठाकुर ने अपने तमाशा (नाट्य) के द्वारा एक नया रंगमंच स्थापित किया। हल्के फूहड़ नाटकों को समकालीन समस्याओं से जोड़ कर उन्हें स्तरीय पहचान दिलाने में अहम भूमिका निभाई। यही वजह है कि भिखारी ठाकुर के सभी नाटकों को विदेशिया के नाच के रुप में जाना जाने लगा।

समाजिक जागरण के लिए समर्पित लोककलाकार भिखारी ठाकुर ने विदेशिया के द्वारा नारी की दुर्दशा का वर्णन कर अपने समय में स्त्री विमर्श को स्वर देने की पहल की थी। जैसा कि सर्वविदित है कि बंगाल में नवजागरण के समय नारी की दशा बदलाव आने लगा था लेकिन बिहार की स्त्रियां इस बदलाव की आंधी से वंचित थी। भिखारी ठाकुर ने विदेशिया तथा अपने अन्य नाटकों के द्वारा बिहार की मूक स्त्रियों का स्वर बनकर उनके स्थिति एवं उनके दर्द को समाज के सामने प्रदर्शित किया। विदेशिया को तत्कालीन बिहार की स्त्री दुर्दशा का प्रतिबिम्ब भी कहा जा सकता है। भारतीय समाज में पति बिना स्त्री कितनी असुरक्षित है इसके एक दृश्य से सपष्ट हो जाता है। इस नाट्क में देवर का भाभी पर जबर्दस्ती अधिकार दिखाना एवं बलात्कार की असफल कोशिश करना समाज की कड़वी हकीकत बयान करने के लिए काफी है। सामंतवादी पूंजीवादी व्यवस्था की देन शहरीकरण के फलस्वरुप देह व्यपार करने वाली समस्या को भी इस नाटक में दर्शाया गया है। रखेलिन का चरित्र इसी वैश्यावृति की समस्या

को चित्रित करती है। विदेशिया का परदेश में बिना विवाह किए रखेलिन के साथ रहने की घटना सभ्य समाज के दोहरे चेहरे को उजागर करता है। हाशिए पर जी रही इस वर्ग की स्त्रियों को मुख्यधारा में सम्मिलित करने का साहसिक संदेश विदेशिया का दूसरा मुख्य उद्देश्य है। यही वजह है कि ठाकुर ने अपने नाटक का अंत रखेलिन एवं उसके दो पुत्रों के साथ प्यारी सुंदरी के पास लौट आने के बाद विदेशिया का सबके साथ एक परिवार के रुप में रहने की कल्पना प्रस्तुत की। नाट्क का ऐसा अंत दिखाने का शायद यही मकसद रहा होगा।

लोक नाटक को तमाशा कहनेवाले लोककलाकार भिखारीठाकुर के नाटक कपोल कल्पना पर आधारित न होकर अपने ईर्द–गिर्द के चिर–परिचित परिवेश के विश्वसनीय चित्र लगते है उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसमें दबे कुचले निम्न वर्ग की बेचैनी बदहाली का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर के लिखा। यही वजह है कि भिखारी ठाकुर के गीत गरीब मजदूर, किसान एवं साधारण ग्रामीण जन के हर्ष विषाद सुख दुख का आईना बन गये है। इसीलिए उन्हे उपेक्षित प्रताडित वर्ग ने अपना जन कवि माना। डा. उषा वर्मा का तो यहां तक मानना है कि "कहीं कहीं जन कवि भिखारी जनमानस तक जितनी आसानी से और जितनी गहराई तक पहुंचे तुलसी को छोड़ कर दूसरा न पहुंच सका। तुलसी भक्त विद्वान अगर माफ कर दे तो दबी जुबान से यह कहा जा सकता है कि कहीं कहीं भिखारी तुलसी से भी आगे निकल गए हैं। यह सही है कि उनके पास तुलसी का पांडित्य नहीं है हो भी नहीं सकता। कहाँ गवई गवार कहाँ पढे लिखे पंडित। लेकिन जहां तक सहज ही अर्थ बोध करा कर सराबोर कर देने का सवाल है भिखारी का लोहा मानने से इंकार करने की कोई गुंजाइश नहीं है। भिखारी साहित्य के संदर्भ में महेश्वराचार्य का मत है–जितनी भी प्रचलित लोकभाषाएं हैं उनके रचनाकार हैं उनमें भिखारी किसी से हीन नहीं है। काव्यक्षेत्र में भिखारी की तुलना किसी एक कवि से नहीं की जा सकती। भिखारी बीसवीं शताब्दी के कवि तथा कलाकार थे मगर उनके उपर भक्तिकाल के हिंदी कवियों की छाप है। शैली सूर सी गीतिमय है, भाव क्षेत्र तुलसी सा व्यापक है। वेदना की गहराई कबीर सी है, भाषा जायसी सी सरस है अत: भक्तिकाल के सभी प्रमुख कवियों का सांमजस्य भिखारी में है। गुप्त जी के शब्दों में भिखारी को अकिंचन की खिचड़ी कहा जा सकता है वे कोरे कवि अथवा रंगकर्मी ही नहीं थे उनके प्रत्येक वाक्य पर कर्तव्य की कठोर मुहर लगी हुई है। भिखारी ने जीने खाने के लिए नाटक मंडली का गठन कर लिया था मगर नाटकों के झूठे अभिनय से ही वह बंधे

नहीं थे रंगे नहीं थे रंगकर्मी होकर भी वह सच्चे भक्त थे भक्ति करते हुए भी वह कर्तव्यपरायण थे, कर्मनिष्ठ थे। भिखारी इस प्रकार के उपदेश नहीं देते थे कि लोग नाच तमाशा के दिवाने बन जाए वरन उनकी एक एक पंक्ति में कर्मठता की ही ध्वनि भरी हुई थी।

कथासार

बिदेशिया बिहार का सार्वजनिक लोकप्रिय लोकनाट्य है। व्यापार काम धंधे की तलाश में प्रतिदिन असंख्य लोग गांव से पलायन करने को मजबूर होते हैं। ऐसे में पति के परदेश जाने की विवशता पत्नी को विरह सहने के लिए मजबूर करती है। बिरहणी पत्नी जब अपने दर्द को गीतो में अभिव्यक्त करती है तो बिरहा और कजरी लोकगीत के रूप में जनसमाज उसकी पहचान करता है। बिहार में प्रचलित इन्ही लोकधुनो के आधार पर भिखारी ठाकुर ने बिदेशिया नामक लोकनाट्य की रचना की।

विदेशिया में तीन मुख्य पात्र है पहला विदेसी दूसरा विदेसी की पत्नी (प्यारी सुंदरी) और तीसरा पात्र बटोही, रखेलिन सहयोगी पात्र है। नाटक की शुरुआत प्यारी (पत्नी) और विदेसी (पति) के बातचीत से होती है विवाह के कुछ दिनों बाद आर्थिक संकटों से जुझते हुए विदेसी पत्नी के आगे कलकत्ता जाने की इच्छा जाहिर करता है। पत्नी पति के इस बात का विरोध करती है। पति पत्नी को समझाने की कोशिश करता है कि गांव के सभी युवक कलकत्ता जाकर कमा कर लौटते है और सुख से जीवन व्यतीत करते है इसलिए वह भी चाहता है कि कलकत्ता जाकर वह मेहनत मजदूरी करके कुछ धन कमाए और फिर अपनी प्यारी सुंदरी के साथ सुख चैन से जीवन बिताएं। लेकिन पत्नी उसकी कोई बात नहीं सुनती। पत्नी के न मानने पर वह बहाना बना कर चुपचाप पत्नी से छिप कर कलकत्ता चला आता है। बिना बताए पति के चले जाने से आहत पत्नी अकेली और दुखी रहने लगती है। बहुत दिनों तक भी जब उसका पति कलकत्ता से कोई संवाद नहीं भेजता तो सुंदरी व्याकुल हो जाती है। उसे यह भय सताने लगता है कि कहीं विदेसी पति को वहाँ किसी दूसरी स्त्री ने अपने मायाजाल में तो नहीं फंसा लिया। क्योंकि लोकमन में ऐसी धारणा आज भी बनी हुई है कि बंगालिन स्त्रियां काला जादू जानती है। उसकी यह चिंता सच साबित होती है। कलकत्ता में विदेशिया का परिचय एक युवती से हो जाता है दोनो में बातचित मेलजोल बढने लगता है और दोनो एक दूसरे के साथ बिना विवाह किए पति

पत्नी के तरह रहने लगते हैं। इस तरह दोनों को एक साथ रहते देख आस-पास का समाज उस युवती को रखैल समझने लगता है। इधर गांव से पति के चुपचाप चले जाने के बाद प्यारी सुंदरी दिन रात रोती कलपती रहती है और पति के इंतजार में एकटक लगाए बाट जोहती रहती है। उसे दृढ़ विश्वास है कि उसका पति एक दिन अवश्य लौटेगा अचानक एक दिन अधेड़ बटोही रास्ते में प्यारी को विलाप करते देख उससे दुख का कारण पूछता है। प्यारी उसे अपना सब हाल सुना देती है। प्यारी की दशा देख बटोही उसके पति को खोजकर वापस भेजने का वायदा कर कलकत्ता के लिए रवाना होता है। कलकत्ता में एक दिन उसकी नजर प्यारी द्वारा बताए गए वेशभूषा से मिलते जुलते युवक पर पड़ती है वह उससे परिचय करके उसकी पत्नी का सब हाल सुना देता है। अपनी पत्नी की दारुण दशा का वर्णन सुनने के बाद युवक गांव लौटने का मन बना लेता है, लेकिन कलकत्ता में उसकी दूसरी पत्नी उसे गांव जाने से रोकती है, लेकिन बटोही के डराने समझाने के बाद वह मान जाती है। इधर गांव में विदेशिया का मित्र (जिसे वह अपनी पत्नी की देखभाल की जिम्मेदारी सौंपकर कलकत्ता आ गया था) उसकी पत्नी पर गलत नजर रखता है और उसे अपना बनाने के लिए तरह तरह के प्रलोभन देता है, लेकिन प्यारी एकनिष्ठ पतिव्रता स्त्री है और वह यह बात युवक को समझाने की बहुत कोशिश करती है, लेकिन वह युवक कामवासना के वशीभूत होकर एक दिन प्यारी से बलात्कार करने की कोशिश करता है। लेकिन मदद के लिए पुकारे जाने पर पड़ोसिन के आने पर वह युवक भाग जाता है। विदेशिया अपनी दूसरी पत्नी को गांव में देख कर चकित होता है। उसके (दूसरी पत्नी द्वारा) बहुत निहोरा (अनुनय विनय) करने के बाद सब मिलजुल कर एकसाथ उसी गांव में रहने लगते है। इस तरह नाटक एक नाटकीय अंत के साथ समाप्त कार होने से बच जाती है। इसी बीच उसका पति विदेशिया घर लौट आता है पति को अपने पास पाकर प्यारी अत्यंत प्रसन्न होती है। बिदेशिया पत्नी को अपना सब हाल सुनाता है तभी उसके पीछे पीछे उसकी दूसरी पत्नी भी उसके पास आ जाती हैं।

बिदेसिया के नाट्कीय अंत को देखते हुए कामरेड चंद्रशेखर लिखते हैघ्-प्रवास के राजनीतिक अर्थतंत्र ने लोगों को खंडित जीवन जीने के लिए बाध्य कर दिया था। सामान्य स्थितियों में भी इसने एक तरह के सामाजिक अस्तित्त्ववाद को जन्म दिया था, जहां कोइ भी एक स्थिति अंतिम स्थिति नहीं लगती थी इसकी वजाय स्वयं को स्थित करने की समस्या लगातार बनी रहती थी) इस

तरह दोनो जगहों (गांव और विदेश में) पर अंततः विदेशी को स्वीकार कर लिया जाता है। बद्रीनारायण के शब्दों में भिखारी ठाकुर में भारतीय गांव जीवन के आर्थिक अन्याय की दर्दनाक गाथा है। पुलिस दमन सामाजिक विसंगतियों नये आर्थिक दवाबों से सामाजिक संबधों के टूटन की जितनी सूक्षम एवं वैज्ञानिक समझ भिखारी ठाकुर के साहित्य में मिलती है उतना तत्कालीन अभिजात स्वीकृत तथा शिक्षित रचनाकारों की रचनाओं में नहीं दिखाई पड़ती है। भिखारी ठाकुर के बारे में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि भिखारी ठाकुर मौखिक परंपरा के रचनाकार थे उन्होंने अपने नाटक लिखे नहीं थे क्योंकि वह साक्षर नहीं थे यही वजह है कि भिखारी ठाकुर के नाटकों के विभिन्न संस्करण मौजूद थे और एक ही समय में उनका मंचन विभिन्न नाटक मंडलियों द्वारा अलग-अलग जगहों पर होता था। इसी से लोकप्रिय परंपरा के संवादधर्मिता का पता चलता है। भिखारी ठाकुर की लोकप्रियता भोजपुरी समाज में इस तरह से थी कि कहा जाता है कि दिनभर खेसारी की कटाई से प्राप्त धन को लोक भिखारी की नौटंकी देखने में खर्च कर देते थे उन दिनों यह कहावत जन जन में प्रचलित थी –"दिन भर काटब खेसारी, रात में ले जहिए भिखारी।" भिखारी आज भी भोजपुरी लोकसंवेदना में इस तरह से रचे बसे हैं कि किसी भी तरह का बाजारवाद उन्हें भोजपुरी समाज से अलग नहीं कर सकता। पैसे का जोर एवं बाजार का दबाव भिखारी के लोकगीतों के सामने घुटने टेकता नजर आता है।

अतः कहना होगा इलेक्ट्रोनिक माध्यमों के अभाव में उस समय लोकनाट्य केवल मनोरंजन के साधन न होकर तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति जनता को सामूहिक समाधान के लिए प्रेरित करने के सशक्त व जीवंत माध्यम थे। इस दृष्टि से लोकसाहित्य के अध्ययन व अनुसंधान निःसंदेह अतीत में बिखरे परंपरा और इतिहास के अनसुलझे पहेलियों को सुलझाने में मदद मिलेगी।

नाटकों के आदि गुरु भरत मुनि का युग शिष्ट नाटकों की उत्पत्ति का काल माना जाता है। किंतु शिष्ट नाटकों से पूर्व लोक नाटकों के युग का आरंभ कब और कैसे हुआ यह तय करना कठिन है। माना जाता है नाटक का विकास नृत्य से हुआ। नाटक नृत्य के क्षेत्र का एक बहुत बडा प्रयोग है। इस कला विधा ने बाद में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित की। कहा जाता है भाषा विकास के पूर्व मनुष्य की वाचिक क्रियाएं शारीरिक क्रियाओं का ही एक अंग थी। यही क्रियाएं नृत्य की लय भंगिमाओं के रूप में निरंतर प्रयोग के बाद नाटक का सिलसिला

प्रारंभ हुआ। इस अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि वह काल खंड जब नृत्य से नाटक अलग हुआ होगा भरत मुनि के पहले का है। भरत मुनि तक आते आते नाटक शास्त्रीय नियमों में बंध चुका था। उल्लेखनीय है कि लोक नाट्य के मूल आधार सामाजिक संरचना के अंतर्द्वंद्वो में विकसित होते रहे हैं। लोकनाट्यों की यह परंपरा संस्कृत नाटकों के पूर्व और उनके समानांतर चलने वाली रही है। भरत ने लोकधर्मी नाट्य वृतियों का उल्लेख इसी परंपरा को लक्षित करते हुए किया है। भरत के नाट्य शास्त्र में नाटक को पंचम वेद कहा गया है जो शुद्रों के मनोरंजन के लिए भी अभिनित किए जाते थे। शुद्र वास्तव में साधारण जन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस संदर्भ में उमा आनंद अपनी पुस्तक "द रोमांस ऑफ थिएटर" में लिखती हैं–क्लासिक माने जाने वाले संस्कृत रंगमंच भरत मुनि के विचारों को पूर्ण करने में असमर्थ हो गए क्योंकि वह सभ्रांत उच्चवर्गीय राजाओं और उसके कुलीन शिक्षित ब्राहमणों का हो कर रह गया था। वह आम जन का रंगमंच नहीं था आम जन के यहां रंगमंच का एक अलग प्रकार विकसित हुआ आम जनता का लोक रंगमंच।

श्यामसुंदर दूवे के अनुसार–लोक निरंतर गतिशील रहा है इसलिए उसके भीतर शास्त्रीयता फिकती रही है और अपना स्थिर आधार बना कर जड़ीभूत होती रही किंतु लोक की गत्वरता अपने भीतर नए–नए आशय और नए नए शिल्प का अनवेषण करती रही। रास से रासलीला का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया के तहत हुआ। रास सामूहिक नृत्य का पर्याय है इस सामूहिक नृत्य में प्रतिष्ठित हुई अनेक बोलियों को पार करते हुए रास की लय और भंगिमा कृष्ण चर्या में लोक प्रेरणा से ही संभव हुई। लोकनाट्य जीवन यथार्थ के करीब विकसित हुआ है यही कारण है कि उसमें धार्मिक कर्मकांड और लोक व्यवहारों की निश्छल अभिव्यक्तियां हुई। हमेशा से लोक के प्रति उच्च वर्ग के बीच तिरस्कार का भाव रहा है, अतः कालांतर में कर्म का और उत्पादक वर्ग द्वारा व्यवहृत नाट्य को उच्च वर्ग द्वारा अपेक्षित लगाव नहीं मिला। इस तरह लोकनाट्य का विकास नितांत लोक व्यवहारों के भीतर से होने लगा। उनका अपना इतिहास अपने मिथक इसके भीतर समाहित हो गए। शिष्ट वर्ग इसी के समानांतर नाटकों के क्षेत्र में शास्त्रीयता की स्थापना कर रहे थे। इस शास्त्रीयता में लोक का प्रवेश धीरे धीरे वर्जित होने लगा उनके नाटकों का नायक उच्चकुलीन राजा एवं देवता ही हो सकता था। दास दासियों एवं अन्य निम्न कुलीय चरित्रों द्वारा प्राकृत भाषा में संवादों का प्रयोग इस ओर संकेत

करता है कि लोक को वे दोयम दर्जा दे रहे थे। भरत मुनि के समक्ष ये दोनो धाराएं थी –जिन्हे वे देसी और मार्गी शैलियां कहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कृत भाषा की क्लिष्टता और शास्त्रीय नियमों के बंधन से मुक्त खुले रंगमंच के रुप में लोकनाट्य के विविध रुपों का उदय मध्यकालों में हुआ। मध्यकाल को लोकभाषाओं एवं लोकसाहित्य के उदय का काल भी कहा जा सकता है। मुस्लिम शासकों की धर्मिक कट्टरता के कारण भारतीय कला मठों और मंदिरों तक सिमट कर रह गए यही वजह है कि उन दिनों रामलीला, कृष्णलीला की उन्नति तेजी से हुई। लोकनाटकों के कथानकों का आधार जनमानस में प्रचलित धार्मिक आख्यान ही रहे हैं–कहा जाता है कृष्णलीला का आर्येत्तर जातियों से सम्बंध है। कृष्ण आर्येत्तर लोगों में नायक के रुप में विशेष प्रिय पात्र थे। भारतीय नाटकों में कृष्ण का प्रवेश आर्येत्तर जाति के प्रभाव का द्योतक है। आर्येत्तर जातियों का रंगमंच वस्तुतः प्रादेशिक भाषाओं से सम्बंधित था इसलिए जब संस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा शौरसैनी प्राकृत पाते है तो यह संस्कृत नाटक कालांतर में सुसंस्कृत वर्ग तक सिमट गए। जन का उनसे संपर्क न रहा मुस्लिम शासकों ने उन्हे आश्रय न दिया लोक ही अपने मंच द्वारा अपना मनोरंजन करता रहा लोकमंचों पर जिन संस्कृत कथाओं की अवतारणा हुई उनमें बहुत कुछ लोकग्राही परिवर्तन हो गए। दो तीन शताब्दियों तक लोकरंगमंच अपने रुढ़ कथानकों को प्रदर्शित करता रहा। सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में बल्लभाचार्य के प्रयत्नों से कृष्णलीला के क्षेत्र में गीत तत्त्वों का समावेश हुआ। जिससे लोकमंच के कला तत्त्वों में किंचित परिष्कार संभव हुआ। .... कहा जाता है स्वयं तुलसी दास ने रामा नगर काशी में रामलीला मंडली स्थापित की थी। भारतीय लोकसाहित्य श्याम परमार पृ.175।

हिंदी प्रदेश में लोकनाटकों की अनेक परंपराएं उपलब्ध है। संस्कृत नाटकों से लोकनाटकों तक का सफर कुछ रोचक तथ्यों को उद्घाटित करते हैं यह जानना अपनेआप में आश्चर्यजनक है कि मुस्लिम काल में जहां शासकों की धार्मिक कट्टरता ने भारत की साहित्यीक रंग परंपराओं को समाप्त कर दिया वही लोकभाषाओं में लोक नाट्यों को प्रसारित करने की जमीन प्रदान की। इसी युग में रासलीला रामलीला तथा नौटंकी आदि रुप में लोकनाट्य विधाओं का जन्म हुआ। यही बात उल्लेखनीय है कि समस्त शिष्ट साहित्य लोकतत्त्व के अभाव में अधूरा बना रहता है। लोकतत्त्व की ग्राहिता किसी भी रचना और रचनाकार को कालजयी बनाने में अहम भूमिका निभाता है। जो साहित्य लोक के जितना निकट

होगा वह उतना ही दीर्घजीवी और अमर होगा। उदाहरण हमारे सामने है। मध्यकालीन कवि जायसी, सूर, तुलसी के साहित्य में लोक तत्त्व की विद्यमानता ही उनके साहित्य को कालजयी बनाती है। अत: नाट्य विधा के वर्तमान विकसित स्वभाव के पीछे परंपरा प्रयोग, प्रगति की समृद्ध पृष्ठभूमि है। शताब्दियों की यात्रा के बाद आज रंगमंच का जो स्वरुप है उसके पीछे लोकजन और लोकजीवनतत्त्व विद्यमान है। प्राचीन काल से आज तक के नाटय साहित्य का अध्ययन इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि लोकसंस्कृति और अभिजात संस्कृति की धाराएं समांतर गति से प्रवाहमान है। भरत का नाट्यशास्त्र कोई आकस्मिक उपज नहीं वरन पूर्व परम्परा को लेकर की गई एक सुनिश्चित योजना है। भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र में कहते है कि सफल नाटक वही है जो लोकात्मक हो, लोकसिद्ध हो, उन्होने नाटय की परिभाषा में लोकसंस्कृति की समस्त प्रवृतियों को समेट लिया है अत: स्पष्ट है कि भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का आधार लोकनाटक रहे होंगे।

लोकनाटकों की उत्पत्ति लोकरंजन के लिए हुई थी। लोकनाट्यों में ग्रामीणजीवन के समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं तथा प्रवृतियों का चित्र उकेरा जाता है। संवाद तत्त्व की प्रधानता होने से चरित्र चित्रण प्राय: गौण रुप में विद्यमान रहता है। लोकनाटक के रचयिता कथा संगठन से ज्यादा नृत्य संगीत शारीरिक हाव भाव पर ज्यादा ध्यान देते है। काव्यात्मकता, संगीतात्मकता इन नाटकों का विशेष गुण है। लोकसंगीत पर आधारित इन नाटकों में विभिन्न नाट्य यंत्र हरमोनियम, ढोलक, नागाड़ा, मंजीरे सारंगी और बांसुरी का प्रयोग किया जाता है। इन नाटकों में मंच सज्जा, प्रकाश व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती ये नाटक प्राय: खुले मंच पर दिखाए जाते है। हिंदी प्रदेश में नाटको की अनेक परंपराएं प्रचलित है–

बिहार में–विदेशिया, कीर्तनियां, विदापत, और जाट–जाटीन।

उत्तर प्रदेश में–विदेशिया, स्वांग, नौटंकी, भगत, रामलीला तथा रासलीला

राजस्थान में भवाई, रावल, गवडी और खयाल

मध्यप्रदेश में–मांच आदि।

लोकनाट्य को प्रधानत: दो भागो में विभक्त किया जाता है।

1. नृत्यपरक लोकनाट्य–नृत्यपरक लोकनाट्य में सामाजिक तथा पौराणिक घटना को आधार बना कर संगीत, नृत्य तथा अभिनय की सहायता से दर्शकों का मनोरंजन किया जाता है।

2. प्रहसनात्मक लोकनाट्य–प्रहसनात्मक नाटकों में विचित्र कथन शारीरिक मुद्राएं एवं वेश-भूषा हास्यास्पद कोटि की होती है और इन्हीं के कारण व्यंग्यपूर्ण अभिनय किया जाता है। इन नाटकों में ऐसी घटना को अभिनय का विषय बनाया जाता है जिसे देखकर या सुनकर दर्शक हंसते–हंसते लोट पोट हो जाए। लखनऊ तथा बनारस के भांड ऐसे प्रहसनों के अभिनय में अत्यंत प्रवीण समझे जाते हैं।

लोकनाट्यों के विभिन्न विधाएं (शैलियां)

नौटंकी–नौटंकी की शुरुआत ग्यारहवीं शताब्दी के आस पास हुआ लेकिन इसका कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। नौटंकी उत्तरप्रदेश की जनप्रचलित नाट्य शैली मानी जाती है। हाथरस और कानपुर नगर इसके गढ़ माने जाते हैं। नौटंकी शुद्ध नाटकों का अपभ्रंश शब्द है। मंच के लिए नौटंकी शब्द के प्रयोग के पीछे एक रोचक लोककथा है। कहा जाता है कि पंजाब के किसी राजा की राजकुमारी जिसका नाम नौटंकी था अपूर्व सुंदरी थी। उसकी सुंदरता की चर्चा दूर दूर तक की जाती थी। फूलसिंह नामक युवक ने एक दिन अपनी भाभी से शीघ्र द्वार खोलने का आग्रह किया इस बात पर उसकी भाभी ने चिढ़कर कहा तुम्हे इतनी जल्दी क्यूं है। लगता है तुम नौटंकी को विवाह कर लाए हो। यह बात युवक फूलसिंह के दिल को लग गई। बस उसी दिन से उसने नौटंकी को पाने का प्रण किया। अनेक कष्टों और बाधाओं के बाद आखिरकार उसका विवाह नौटंकी से हो गया। नौटंकी की यह प्रेम कथा जब सजसंवरकर लोकस्वांग के मंच पर आई तो उसकी लोकप्रियता और प्रभावोत्पादकता के कारण लोक उस मंच को ही नौटंकी कहने लगे और इसके बाद उस मंच पर जो भी प्रदर्शन इस शैली में हुए सभी नौटंकी कहलाने लगे।

मांच–मालवा का लोकनाट्य मांच मंच शब्द का अपभ्रंश (मालवी) तदभव रुप है इसका आरंभ उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है। खुले मंच पर प्रदर्शित किए गए मांच वास्तव में लोकगीति नाट्य है। मांच में लोकगीतों की शब्द योजना नाट्य और लोकरंजन कारी तीनो का समावेश किया जाता है। यह नाट्य मध्यरात्रि से आरंभ होकर सूरज के प्रथम किरण के साथ समाप्त होते है। मालवा के मांच लोकनाट्य के संगीत का अपना निजी रुप है। मांच के तीन अखाड़े हैं जो बालमुकुंद गुरु, कालुराम उस्ताद और राधा कृष्ण गुरु के अखाड़ों

के नाम से जाने जाते हैं। मगर इन तीनों में गाए जाने बाले गीतों की शैली में कोई अंतर नहीं है। मांच का सौंदर्य उसके संवाद गायन में है जो धोलकी के तान पर विशेष ओज और अंदाज से प्रस्तुत किए जाते हैं। यह नाटक गांव अथवा नगर के खुले स्थान में उंची भूमि पर अथवा तख्त बिछा कर खेले जाते हैं। इनके खेलों के लिए नेपथ्य अथवा रंगमंचीय आडंबरों की आवश्यकता नहीं होती।

3

लोक गीत

लोकगीत लोक के गीत हैं जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। सामान्यत: लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्त्व को लोक समर्पित कर देता है। शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोकव्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्‌भूत करता है, वही लोकगीत है।

इस प्रकार लोकगीत शब्द का अर्थ है–

1. लोक में प्रचलित गीत
2. लोक–रचित गीत
3. लोक–विषयक गीत

कजरी, सोहर, चैती, लंगुरिया आदि लोकगीतों की प्रसिद्ध शैलियाँ हैं।

परिचय

संस्कार गीत

बालक–बालिकाओं के जन्मोत्सव, मुण्डन, पूजन, जनेऊ, विवाह, आदि अवसरों पर गाये जाने वाले संस्कार गीत हैं –सोहर, खेलौनो, कोहबर, समुझ बनी, आदि।

गाथा-गीत लोकगाथा

विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित विविध लोकगाथाओं पर आधारित इन गाथा-गीतों को निम्न श्रेणियों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है -

आल्हा-
ढोला-
भरथरी -
नरसी भगत-
घन्नइया-

लोरिकायन –वीर रस से परिपूर्ण इस लोकगाथा में गायक लोरिक के जीवन-प्रसंगों का जिस भाव से वर्णन करता है, वह देखते-सुनते ही बनता है।

नयका बंजारा –विभिन्न क्षेत्रों में गाये जाने वाले लोक गीतों में प्राय: विषय-वस्तु तो एक ही होती है, किन्तु स्थान, पात्र तथा चरित्रों में विविघता के दर्शन होते हैं।

विजमैल –राजा विजयमल की वीरता का बखान करने वाली इस लोकगाथा में बढ़ा-चढ़ाकर प्रचलित गाथा का वर्णन किया जाता है।

सलहेस –एक लोककथा के अनुसार, सलहेस, दौना नामक एक मालिन का प्रेमी था। उसके एक शत्रु ने ईर्ष्यावश सलहेस को चोरी के झूठे आरोप में बन्दी बनवा दिया। दौना मालिन ने अपने प्रेमी सलहेस को किस प्रकार मुक्त कराया। बस इसी प्रकरण को इस लोक-गीत में भाव-विभोर होकर गाया जाता है।

दीना भदरी –इस लोक-गीत में दीना तथा भदरी नामक दो भाइयों के वीरता का वर्णन मार्मिकता से गाया जाता है। इसके साथ ही राज्य के विभिन्न अंचलों में आल्हा-ऊदल, लाला हरदौल बुंदेला, राजा ढोलन सिंह, छतरी चौहान, नूनाचार, लुकेसरी देवी, कालिदास, मनसाराम, छेछनमल, लाल महाराज, गरबी दयाल सिंह, मीरायन, हिरनी-बिरनी, कुंअर बृजभार, राजा विक्रमादित्य, बिहुला, गोपीचन्द, अमर सिंह, बरिया, राजा हरिश्चन्द्र, कारू खिर हैर, मैनावती आदि के जीवन एवं उनकी वीरता भरी गाथाओं को राज्य के गाथा-गीतों के रूप में गाया जाता है।

पर्वगीत

राज्य में विशेष पर्वों एवं त्योहारों पर गाये जाने वाले मांगलिक-गीतों को 'पर्वगीत' कहा जाता है। होली, दीपावली, छठ, तीज, जिउतिया, बहुरा, पीड़िया, गो-घन, रामनवमी, जन्माष्टमी, तथा अन्य शुभअवसरों पर गाये जाने वाले गीतों में प्रमुखत: शब्द, लय एवं गीतों में भारी समानता होती है।

बारहमासा

प्रथम मास असाढि सखि हो, गरज गरज के सुनाय। सामी के अईसन कठिन जियरा, मास असाढ नहि आय सावन रिमझिम बुनवा बरिसे, पियवा भिजेला परदेस। पिया पिया कहि रटेले कामिनि, जंगल बोलेला मोर भादो रइनी भयावन सखि हो, चारु ओर बरसेला धार। चकवी त चारु ओर मोर बोले दादुर सबद सुनाई कुवार ए सखि कुँवर बिदेश गईले, तीनि निसान। सीर सेनुर, नयन काजर, जोबन जी के काल कातिक ए सखी कतकि लगतु है, सब सखि गंगा नहाय। सब सखी पहिने पाट पीतम्बर, हम धनि लुगरी पुरान अगहन ए सखी गवना करवले, तब सामी गईले परदेस। जब से गईले सखि चिठियो ना भेजले, तनिको खबरियो ना लेस पुस ए सखि फसे फुसारे गईले, हम धनि बानि अकेली। सुन मन्दिलबा रतियो ना बीते, कब दोनि होईहे बिहान माघ ए सखि जाड़ा लगतु है, हरि बिनु जाड़ो न जाई। हरि मोरा रहिते त गोद में सोबइते, असर ना करिते जाड़ फागुन ए सखि फगुआ मचतु है, सब सखि खेलत फाग। खेलत होली लोग करेला बोली, दगधत सकल शरीर चैत मास उदास सखि हो एहि मासे हरि मोरे जाई। हम अभागिनि कालिनि साँपिनि, अवेला समय बिताय, बइसाख ए सखि उखम लागे, तन में से ढुरेला नीर का कहों आहि जोगनिया के, हरिजी के राखे ले लोभाई, जेठ मास सखि लुक लागे सर सर चलेला समीर। अबहुँ ना सामी घरवा गवटेला, ओकरा अंखियो ना नीर।

पेशा गीत

राज्य में विभिन्न पेशे के लोग अपना कार्य करते समय जो गीत गाते जाते हैं उन्हें 'पेशा गीत' कहते हैं। उदाहरणार्थ –गेहूं पीसते समय 'जाँत-पिसाई', छत की ढलाई करते समय 'थपाई' तथा छप्पर छाते समय 'छवाई' और इनके साथ ही विभिन्न व्यावसायिक कार्य करते समय 'सोहनी, 'रोपनी', आदि गीत गाते-गाते कार्य करते रहने का प्रचलन है।

जातीय गीत

समाज के विभिन्न क्षेत्रों की विविध जातियाँ मनोनुकूल अपने ही गीत गाती हैं, जिन्हें 'जातीय गीत' कहते हैं। श्रोतागण उन्हें सुनकर अनुमान कर लेते हैं कि गायक-गायिका किस जाति विशेष से सम्बन्धित हैं।

उक्त लोक गीतों के साथ ही बिहार में समय-समय पर और विशेषकर संध्याकाल समय भोजनोपरान्त सांझापराती, झूमर, बिरहा, प्रभाती, निर्गुण, देवी-देवताओं के गीत गाने का प्रचलन है।

प्रमुख लोक गायक

पद्मश्री शारदा सिन्हा, विजया भारती, मनोज तिवारी, मालिनी अवस्थी, देशराज पटेरिया जित्तू खरे, जयसिंह राजा, बब्बू राजा बुंदेला, प्रहलाद सिह टिपानिया, तारासिह डोडवे, जण्टू सिंह, बांकेलाल, डॉ शंकर प्रसाद, मोतीलाल 'मंजुल', विंध्यवासिनी देवी, नन्द किशोर प्रसाद, कमला देवी, केसरी नन्दन भगत, कुमुद अखौरी, ग्रेस कुजूर, विष्णु प्रसाद सिन्हा, ब्रज किशोर दुबे, भरत सिंह भारती, संतराज सिंह 'रागेश', योगेन्द्र सिंह अलबेला, अजित कुमार अकेला, भरत शर्मा व्यास, शम्भूराम, कविता चौधरी, उमाकान्त कमल, ललिता झा, उर्वशी, रेणुका, अजीत अकेला,नीतू कुमारी नवगीत, सत्येंद्र कुमार संगीत, नीतू कुमारी नूतन,मनोरंजन ओझा, चंदन तिवारी, पंकज सखा, अनु दुबे, रामकिशोर त्रिपाठी, बघेली लोकगीत गायक-भोपाल आदि लोक गायक हैं।

किसी देश की संस्कृति का परिचय उस देश के लोक साहित्य से प्राप्त हो जाता है। लोक साहित्य समाज की आत्मा का उज्ज्वल प्रतिबिम्ब है। किसी देश की जातीय, राष्ट्रीय साहित्यिक, सामाजिक ऐतिहासिक, धार्मिक एवं आर्थिक मापदंड के लिए यदि कोई पैमाना हमारे पास है तो वह उस देश का लोक साहित्य ही है।

लोक गीतों का अर्थ एवं परिभाषा

लोक गीत में लोक और गीत दो शब्दों का योग है जिसका अर्थ है लोक के गीत। लोक शब्द वास्तव में अंग्रेजी के ' फोक ' का पर्याय है जो नगर तथा ग्राम की समस्त साधारण जन का द्योतक है, आचार्य हजारी प्रशाद द्विवेदी के अनुसार –' लोक ' शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है। बल्कि नगर व गाँवों में फैली हुई समुची जनता है। जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार साधारण पोथियां नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत रूचि समपन्न तथा संस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्थ होते हैं।

लोक से उन लोगों का अभिज्ञान होता है जो नगर संस्कारों एवं सविध शिक्षा से वंचित है। 'लोक' मानव समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार,

शास्त्रीयता पाण्डित्य की चेतना और पाण्डित्य के अंहकार से शून्य है। जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। इसी प्रकार ' गीत ' शब्द का अर्थ प्रायः उस कृति से है जो गेय हो। लोकगीत में गेयता का होना आवश्यक है। संगीत एवं लय उसका प्राण है अतः इसी कारण लोकगीत को स्वतः स्फूर्त संगीत कहा गया है। लोकगीतों के सम्बंध में लोक साहित्य के मर्मज्ञों ने विभिन्न प्रकार के कलात्मक ढंगों से अपने विचार व्यक्त किए है।

लोक गीतों का स्वरूप

लोक साहित्य में लोक संस्कृति और सभ्यता का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है लोक साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है जिसमें मानव जीवन के जन्म से लेकर मृत्यु तक के विभिन्न संस्कार विभिन्न लोक साहित्यिक विधाओं के माध्यम से चित्रित होते हैं। साहित्यिक विधाएं जैसे लोक गीत, लोककथाएं लोक गाथाएं लोक नाट्य एवं लोक सुभावित कहावतें, मुहावरे इत्यादि।

लोक साहित्य की इन विधाओं में लोकगीत सर्वाधिक सशक्त एवं प्रभावशाली विधा है लोकगीत लोकरंजन एवं लोक मंगल के महत्त्वपूर्ण उपादान है।

मानवीय जीवन दुखों एवं प्रभावों की एक लम्बी गाथा हैं मानव जीवन में आए दिन कितने ही दुख, संकट एवं बाधाएं आती रहती है जब हर्ष या विषाद की कोई भाव धारा हृदय को छू जाती है तो हृदय वीणा की तार की तरह झनझना उठते है। हृदयस्थ भाव अभिव्यक्ति हेतु व्यग्र हो उठते है ं तथा लयात्मक रूप से निःसृत होकर लोक गीत का रूप धारण कर लेते हैं।

ये गीत सरल, स्वछन्द एवं मधुर इसलिए होते हैं कि इनका निर्माण लोक मानस द्वारा, लोक के लिए, शान्त और स्वछन्द वातावरण में हरे –भरे दूर तक फैले खेतों के मेड़ों, बहते झरनो, गदराई अमराईयों और विकसित होती हुई कलियों के बीच खुले आकाश के नीचे होता है।"

लोकगीत उदभव एवं विकास

लोक गीतों का उद्भव संभवतः उतना ही प्राचीन है जितना की मानव जीवन। आदि युग से जब मानव कन्द्राओं, गुफाओं, और जंगलों में रहता था तो वह प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए समूह में रहता था। जब उसमें बुद्धि का विकास हुआ होगा तो सम्भवतः उसने अपनी भावनाओं को लयात्मक ढंग

से अभिव्यक्त किया होगा। जिसे दूसरों ने गा –गा कर लोक गीत का रूप दे दिया होगा वही आदि गीत लोकगीत कहलाया। आदि मानव प्राकृतिक जीवन यापन करता था।

वह प्रकृति के संसर्ग में रहते हुए पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर था। वह प्रकृति की गोद में पलने वाला जीव था। इसलिए उसका रहन –सहन आचार विचार सरल था। आडम्बर एवं कृत्रिमता से दूर, नितान्त सहजता के कारण ही उसके गीतों में स्वछन्दता एवं स्वाभाविकता का पुट अधिक था। आज भी लोक गीतों में वही सार लय दृष्टिगोचर होता है।

लोक गीतों के उदभव एवं विकास के बारे में विद्वानों में मतभेद रहा है। लोक गीतों का सृजन कैसे हुआ इसके रचियता कौन है कई ऐसे विवादास्पद प्रश्न हैं जिनका स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

जर्मनी के प्रख्यात लोक साहित्य मर्मज्ञ विल्यप्रिय ने अपना सामूहिक उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि लोकगीत सामूहिक रीति से निर्मित होते हैं। परन्तु रूसी लोक साहित्य मर्मज्ञ सोकोलोव, प्रिय के सामूहिक उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए लिखते हैं। कि कोई भी कृति ऐसी नहीं है जिसका कोई रचियता न हो या जो सबकी रचना हो।

वस्तुत: लोक गीत का सृजन बीज रूप में सर्वप्रथ एक व्यक्ति द्वारा होता है और फिर मौखिक परम्परा में रहने के कारण अन्य व्यक्तियों द्वारा समय –समय पर संबोधित होता रहता है। यही कारण है कि एक ही गीत के कई पदान्तर प्राय: उपलब्ध होते हैं। डॉ –भीमसिंह मालिक के अनुसार '' दुर्वादुल की भांति लोक गीतों के मूलों तक पहुंचना दु:साध्य कार्य है और जिस प्रकार पूर्वा स्थान –स्थान पर मिट्टी से सम्पर्क स्थापित कर, अपनीश्रृंखला के नए –नए फूलों का जाल बिछाती चलती है वैसे ही लोक गीत भी ना –ना कण्ठों और स्वरों में रमकर विकसित एवं परिष्कृत होता रहता है।

मानवीय ज्ञान के अनन्त भण्डार, इतिहास के अनेक पृष्ठों की उलट फेर, के पश्चात भी लोक गीतों के सृजन की तिथि को खोजना संम्भव नहीं है क्योंकि लोक गीतों को किसी काल विशेष की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। मानव हृदय जब कभी भी सहानुभूति से प्रेरित सुरा संवेदनाओं से आन्दोलित हुआ होगा गीतों के अज्ञात स्वर मनुष्य के अधारों पर गुंज उठे होंगे। आनंन्द की भावना से मानव जीवन सर्वदा ही पोषित होता रहा है। अत: आनन्द भावना को मानव जीवन

के विकास की प्रमुख प्रवृति ही माना जाएगा इसकी मूल प्रेरणा है मानव हृदय की रसात्मक अनुभूति। इस अनुभूति का उदवेलन हृदय की संकुचित सीमा में न समाकर जब वाणी मुर्खारत होने की स्थिति में पहुंच जाता है तभी लोक गीतों का स्रोत उमड़ पड़ता है।

लोक गीतों के उदगम से सम्बन्धित जिज्ञासा का देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा प्रस्तुत समाधान भावात्मक होते हुए भी यथातथ्य विश्लेषण के अधिक निकट है। कहां से आते हैं इतने गीत स्मरण विस्मरण की आंख मिचौनी से। कुछ अट्ठास से और कुछ उदास हृदय से। जीवन के खेत में ये उगते है। कल्पना भी अपना काम करती है रागवृति भी, भावना भी और नृत्य का हिलोरा भी। इसी प्रकार हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि लोक गीत की एक –एक विद्या के चित्रण पर रीति काल की सौ –सौ मुगधाए खण्डिताए और थिराएं न्यौछावर की जा सकती है। क्योंकि ये निरलेकार होने पर भी प्राणमयी है और वे अलंकार से लदी हुई होकर भी निष्प्राण है। ये अपने जीवन के लिए किसी रस्म विशेष की मुखापेक्षी नहीं है और अपने आप में परिपूर्ण है।

लोक गीतों के आलोचक डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय लोकगीतों का उद्गम बताते हुए कहते हैं कि ' सुख दुखमयी भावावेश की अवस्था के चित्रण का माध्यम आशुपात दीर्घ निश्वास, पुलक और मुस्कान आदि आनुभाविक आंगिक चेष्टाओं तक ही सीमित न रहकर हर्ष और वेदना का स्वरूप धारण कर कण्ठ के द्वारा साकार हो उठता है तभी गीतों के स्वर फूट पड़ते है। ये गीत किसी कवि के नहीं व्यक्ति विशेष के नहीं अपितु सामान्य जनमानस की अज्ञात सृष्टि है।

लोक गीत का रचयिता प्राय: अज्ञात होता है परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि गीत का कोई निर्माता ही नहीं था इसकी उत्पत्ति '' देव –योग" से हुई हो। लोक गीत अज्ञात रस कारण है कि लेखकों ने अधिकांशत: नाम लिपिबद्ध नहीं किए और यदि कई स्थितियों में किए भी है तो हम उन्हें खोजने में असमर्थ है। वे पाण्डित्य से अहंकार से शून्य साधारण, अनपढ व्यक्ति थे उनके पास आधुनिक युग जैसे प्रकाशन एवं टंकन की सुविधा न थी। अपनी रचनाओं का निर्माण उन्होंने कागज व –स्याही से न करके मौखिकता से किया है।

"आधुनिक युग में तो साहित्य के इतिहास लेखक की कलम भी कई स्थलों पर रूक जाती है जब उसे "पृथवी राज रासो" जैसे मौलिक, कलात्मक ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा रचनाकाल का ऐतिहासिक विवरण निश्चित करना पड़ता है। लोकगीत न तो कभी लिपिबद्ध हुए थे न इनके रचयिताओं की ज्ञेयता

ही स्पष्ट है। अत: मौखिक परम्परा से एविरता ऐसी कलात्मक रचनाओं का रचना काल ढूंढना अथवा इनके मूल रचयिताओं की खोज करना कठिन ही नहीं असंम्भव भी है। वस्तुत: जब तक वेदों के रचयिताओं की ज्ञेयता स्पष्ट नहीं होती, तब तक लोकगीतों के रचियताओं को ढूंढना निरर्थक है।"

लोकगीत मौलिक परम्परा में जीवित रहते हैं। लोक कवि सामान्य एवं साधारण जनसमूह का प्रतिनिधि होता है। गीत का सृजन करते समय वह लेखनी से अधिक अपने कण्ठ तथा जिह्वा का उपयुक्त प्रयोग करता है फलस्वरूप मौखिक प्रक्रिया से ही गीत लोकप्रिय हो जाता है। ज्यों ही गीत एक या दो पिढ़ियों तक चला जाता है इसके मूल रचियता का नाम मिटता चला जाता है तथा भुला दिया जाता है। वस्तुत: कालान्तर में गीतकार नितांत अज्ञात हो जाता है।

जहां किसी लोक गीत में गायक या लेखक का नाम मिलता भी है वहाँ प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुत: गीत का मूल रचयिता वही है। वस्तुत: किसी भी गायक को लोकगीत का मूल रचयिता मान कर, गीत का रचनाकाल इत्यादि निर्धारित करना सर्वथा ग्रामक होगा।

वस्तुत: यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि किसी गीत का रचना काल क्या है? इसका सृजन कब और कैसे हुआ? वास्तव में ये ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिनका उत्तर देना सहज नहीं। जब तक रचनात्मक लिखित साहित्य की भांति लोकगीतों अथवा लोक साहित्य का इतिहास नहीं मिल जाता, तब तक ऐसे प्रश्नों का समाधान असम्भव है।

वस्तुत: भारत की समग्र बोलियों तथा उपबोलियों में प्रचलित गीतों के अध्ययन उपरान्त कोई ऐसा लक्ष्य प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर दृढतापूर्वक कहा जाए कि यहां के लोक गीतों का सृजन "सामूहिक विधि" से हुआ है। आधुनिक अनुसंधाान ने यह बात स्पष्ट करती है कि ' लोकगीतों ' की सृजन प्रक्रिया में समुदाय नहीं अपितु समुदाय का व्यक्ति ही अधिक सक्रिय रहा है।

यह प्रक्रिया आज भी जीवित है। आज भी गीत बनते हैं जिन्हें समुदाय का व्यक्ति बनाता है। विशेष कर स्त्रियां इस क्षेत्र में अग्रणीय है। अस्तु लोकगीतों की उत्पत्ति नहीं सामूहिक रीति और न हीं किसी विशिष्ट जाति द्वारा होती है। लोक गीत लोकमानेस की साधारण अभिव्यक्ति् है जिसका रचियता एक व्यक्ति हुआ करता है अत: जिसे लोक कवि की संज्ञा दी जा सकती है। मौखिक परम्परा में रहने से ये गीत विकृत होते है जिनका दायित्व "लोक गायक" पर ही ठहरता है। वर्तमान हिंदीभाषी क्षेत्र प्राचीन भारत का मध्य देश' है। इस क्षेत्र में बोली जाने

वाली बोलियों को भाषा वैज्ञानिकों ने चार भागों में बाँटा है। पश्चिमी हिंदी' जिसके अंतर्गत खड़ी बोली, ब्रज, बांगरू, कन्नौजी, राजस्थानी तथा बुंदेलखंडी भाषाएँ आती हैं। अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी मध्य की भाषाएँ हैं और इसके पूर्व में बिहारी भाषा समुदाय की भोजपुरी, मैथिली तथा मगही भाषाएँ हैं। उत्तर में कुमाऊँनी भाषा है जो नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल, टेहरी गढ़वाल, पिथौरागढ़, चमौली तथा उत्तर काशी में बोली जाती है। बोलियों की बहुत सी उप-बोलियाँ भी हैं, जिनके लोकगीतों का यथास्थान संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा। लोकगीत चाहे कहीं के भी हों वे प्राचीन परंपराओं, रीतिरिवाजों एव धार्मिक तथा सामाजिक जीवन के या यों कहिए कि संस्कृति के द्योतक हैं। यहाँ विभिन्न क्षेत्रों के विविध लोकगीतों का परिचय देने के पूर्व ऐसे गीतों की चर्चा की जा रही है जो मात्र शब्दावली बदलकर अनेक क्षेत्रों में गाए जाते हैं। इनमें भाषा अथवा बोली की अनेकता भले हो पर भाव की एकता एवं उसे व्यक्त करने तथा पात्रों का चयन एक जैसा होता है। ऐसे गीतों में ऋतुसंबंधी गीत, संस्कार गीत और जातीय गीत मुख्य रूप से आते हैं। पद्य गाथाएँ एवं पँवारे भी विभिन्न प्रकार से गाए जाते हैं।

ऋतुगीतों में फाग और पावस गीत ऐसे हैं जो अनेक क्षेत्रों में प्रचलित दिखाई पड़ते हैं। फाग गीत मुख्य रूप से पुरुषों का गीत है जो बसंतपंचमी से लेकर होलिकादहन के सबेरे तक गाया जाता है। अवधी, ब्रज, राजस्थानी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, बैसवाड़ी, बघेली, भोजपुरी आदि अनेक बोलियों में फाग संबंधी गीत पाए जाते हैं। फाग के होली, चैताल, डेढ़ताल, तिनताल, देलवइया, उलारा, चहका, लेज, झूमर और कबीर आदि अनेक प्रकार हैं। इन सब में केवल घुनों का अंतर है। पावस गीतों की भी बहुक्षेत्रीय परंपरा है। ये गीत उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में न्यूनाधिक मात्रा में पाए जाते हैं किंतु अवधी और भोजपुरी में अधिक प्रचलित हैं। इन दोनों क्षेत्रों में इन्हें कजली कहा जाता है। संस्कार के गीतों में सोहर (जन्मगीत), मुंडन, जनेऊ, के गीत और विवाह के गीत प्रायः सभी स्थानों में गाए जाते हैं। मृत्यु के समय प्रायः प्रत्येक क्षेत्र की स्त्रियाँ राग बाँधकर रोती हैं। जातीय गीतों में काफी पृथक्ता होती है, किंतु जहाँ एक ही जाति के लोग अनेक क्षेत्रों में बसे हैं, उनके गीतों की मूल प्रवृत्ति एक जैसी ही है। जैसे, पँवरिया जाति के लोग पँवारा, नट जाति के लोग आल्हा, अहीर जाति के लोग विरहा कई क्षेत्रों में गाते हैं। पद्य गाथाएँ तो प्रायः सभी क्षेत्रों में मिल जाती हैं। ये स्थानीय जननायकों के चरित्रों पर आधारित होती हैं।

लोकसाहित्य एवं लोकगीत

लोक सहित्य का अभिप्राय उस साहित्य से है जिसकी रचना लोक करता है। लोक-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, इसलिए उसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है।

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार–'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।' (लोक साहित्य विज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ-03)

साधारण जनता से संबंधित साहित्य को लोकसाहित्य कहना चाहिए। साधारण जनजीवन विशिष्ट जीवन से भिन्न होता है अत: जनसाहित्य (लोकसाहित्य) का आदर्श विशिष्ट साहित्य से पृथक् होता है। किसी देश अथवा क्षेत्र का लोकसाहित्य वहाँ की आदिकाल से लेकर अब तक की उन सभी प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है जो साधारण जनस्वभाव के अंतर्गत आती हैं। इस साहित्य में जनजीवन की सभी प्रकार की भावनाएँ बिना किसी कृत्रिमता के समाई रहती हैं। अत: यदि कहीं की समूची संस्कृति का अध्ययन करना हो तो वहाँ के लोकसाहित्य का विशेष अवलोकन करना पड़ेगा। यह लिपिबद्ध बहुत कम और मौखिक अधिक होता है। वैसे हिंदी लोकसाहित्य को लिपिबद्ध करने का प्रयास इधर कुछ वर्षों से किया जा रहा है और अनेक ग्रंथ भी संपादित रूप में सामने आए हैं किंतु अब भी मौखिक लोकसाहित्य बहुत बड़ी मात्रा में असंगृहीत है।

लोक जीवन की जैसी सरलतम, नैसर्गिक अनुभूतिमयी अभिव्यंजना का चित्रण लोकगीतों व लोक-कथाओं में मिलता है, वैसा अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। लोक-साहित्य में लोक-मानव का हृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती-गुनगुनाती है। लोक-साहित्य में निहित सौंदर्य का मूल्यांकन सर्वथा अनुभूतिजन्य है।नागर के विपर्यय में लोक शब्द को समझा जा सकता है, किंतु प्राचीन काल में यह शब्द व्यापक जन समाज के लिए आता था। मात्र ग्रामीण जन जीवन के लिए नहीं। आचार्य अभिनव गुप्त ने 11–12 शताब्दी में कहा था "लोकोनाम जनपद वासी जन" अर्थात जनपद में रहने वाला जन ही लोक है परंतु आज लोकशब्द को मात्र ग्रामीण जनजीवन तक सीमित कर दिया गया है। अभिनव गुप्त के मतानुसार लोक शब्द से वह संपूर्ण समाज (नगर और ग्राम्य) संबोधित होता है जो जीवन के

अनगढपन को बड़े ही सहज ढंग से स्वीकार करता है और जीता है। इस अनगढपन में समाज का सामूहिक अनुभव और विवेक होता है जो अपनी स्वीकृति के लिए किसी शास्त्र के बजाय जीवन के कर्मरत अनुभव और परिस्थितिपरक राग अनुराग से उतपन्न विवेक पर निर्भर करता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गावों में फैली हुई वह समुची जनता है जिनकी व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृतरुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती है उनको उत्पन्न करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि यही समाज अपने जीवन के अनुभव को अपने विवेक के आधार पर विविध कलात्मक रुपों में अभिव्यक्त करता है तो वे लोकसाहित्य या कला के द्वारा अभिचिह्नित किए जाते हैं। लोकसाहित्य शिष्ट साहित्य के विपरीत सामूहिक विवेकशील जीवन पद्धति का प्रतिविम्ब होते हैं जो सहज सरल और भौतिकवादी होने के साथ साथ अपनी जीवंत परंपराओं को अपने दैनिक जीवन के संघर्ष से जोडती चलती है। इस साहित्य की विशेषता यह होती है कि यहाँ व्यक्ति विशेष महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि सामूहिक अनुभव और संघर्ष से उत्पन्न रागात्मकता महत्वपूर्ण होती है। यही वजह है कि लोकसाहित्य को " अपौरुषेय वांडमय कहा गया है। लोकसाहित्य की प्रायः कोइ भी रचना किसी व्यक्ति विशेष के नाम से चिह्नित नहीं की जा सकती क्योकि यह सामूहिक अभिव्यक्ति का रुप होता है या कहें लोकाभिव्यक्ति में लोक का सामूहिक प्रयत्न होता है।" ग्रिम का कहना है कि लोकगीत स्वयं बनते हैं इसका तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्तिविशेष के द्वारा किसी अनुभूति की अभिव्यक्ति के संदर्भ में उसके समूह के अन्य लोगों के भावोदगार भी उसमें जुड़ते रहते हैं और विविध रुपों में लोकसाहित्य बनता संवरता रहता है।

"लोकसाहित्य में लोकमन महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वाचिक परंपरा द्वारा ही लोकसाहित्य जन जन तक पहुंचता है। लोकमन और लोकमत, लोकसंस्कार, लोकरीति, लोकजीवन प्रत्येक पहलू लोकसाहित्य में सहज संवाद करने लगता है। मौखिक रुप से जो रचना कही जाती है वह यद्यपि मूल रुप में किसी एक व्यक्ति द्वारा रची गई होगी लेकिन उसमें समय समय पर अन्य व्यक्तियों द्वारा भी जोड़ा घटाया जाता है और इस प्रक्रिया में रचना किसी की

न रहते हुए भी सबकी हो जाती है। लोकसाहित्य की कृति होठों पर चलती लंबा फासला तय करती रुप बदलती रहती है। कोई इसमें शब्दों गढता मांजता है कोई नई तुकें जोड़कर इसमें मिला देता है कोई इसे छांटता संवारता है और आखिर में रचना अपने में जातीय समूह का अनुभव रचा पचा कर एक साक्षी कृति बन जाती है। एक धुन जिसके साथ सबके हृदयों की धड़कने एक सुर हो जाती है एक रस जिसको सब अपना समझ कर पीते है।" उपरोक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि लोक साहित्य का आधार संवेदनात्मक ज्ञान है। दिनभर के कार्य से थके हारे मन को सामूहिक आनंद चाहिये जिसकी परिणीति लोकगीत, लोकनृत्य में होती है इसी कारण सोहनी, रोपनी, पूर्वी, चैता, कजरी, झूमर। ..आदि लोकगीत लोक संस्कृति में आज भी सुरक्षित है।

लोक और फोक में अंतर-लोक शब्द को अंग्रेजी फोक का पर्याय एक प्रचलित अर्थ में मान लिया जाता है, किंतु लोक पश्चिमी फोक से बहुत भिन्न है।फोक का सबंध भूली बिसरी चीजों परम्पराओं रीति-रिवाजो, कथाओं, गीतों के संकलन संग्रह और स्मरण से है जबकि भारतीय दृष्टि में लोक सदा विकास की प्रक्रिया में रहने वाला मानवीय तत्त्व है।

अत:लोकवार्ता, लोकसाहित्य, लोकसंगीत, लोककला आदि शब्द फोकलोर की पश्चिम अवधारणा से भले ही जुडे हो लेकिन लोक की भारतीय अवधारणा की ठीक उन्ही संदर्भो में व्याख्या मुश्किल होगी। फोकलोर में पुराकथा, आख्यान, लोककथा, मौखिक परम्परा से लोककंठ में जीवित अलिखित लोकगीत, कहावतें, पहेलियां लोक विश्वास लोकरीति लोकाचार, लोक-कर्मकांड,जादू-टोने सभी कुछ समाहित है। उन्नीसवी शताब्दी में पूंजीवाद के विकास के साथ ही साइंस को इस युग के एक मुख्य मिथक के रूप में स्वीकार किया गया अत: फोकलोर से उस समग्र ज्ञान को कहने की चेष्टा की गयी जो साइंटिफिक नालेज से अलग है। किंतु संस्कृत वाडयमय में लोक आदि,बर्बर, असभ्य, या अविकसित, अवैज्ञानिक समुदाय या वर्ग नहीं है और सर्वोच्च मौखिक परम्परा या अलिखित परम्परा तो वह है जिसे सर्वथा दिव्य, दोषशून्य, पूर्ण और शाश्वत माना गया है-वह है वैदिक परम्परा। अत: फोकलोर के आधार में विद्यमान मौखिक परम्परा की धारणा भारतीय संदर्भो में अर्थहीन हो जाती है जहां सामंती विकास के अंतिम दौर में भी सर्वशुद्ध, दोषरहित शाश्वत और परिष्कृत परम्परा का प्रतिनिधित्व मौखिक परंपरा ही करती है। इसके साथ ही दास और कृषक वर्ग की संपूर्ण संस्कृति को बर्बरता,असभ्यता,अविकास और पिड़ेपन की दृष्टि से

कभी नहीं देखा गया। इसके विपरीत लोक और शास्त्र में एक सतत संवाद और आदान-प्रदान का सम्बंध है। जो कुछ लोक में है वही कभी शास्त्र बनता दीखता है और जो शुद्ध शास्त्रीय रूप है वह कालांतर में शास्त्रीय न रहकर लोक में जीवित दीखता है। जब शास्त्रीय और अभिजात सस्कृति मुरझाने लगती है या मलिन हो जाती है तो लोक से जीवन रस पाती है। लोक और शास्त्र के मध्य विग्रह और विरोध कम संवाद और विनिमय का सम्बंध ही अधिक है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लोकसस्कृति एवं नागरिक सभ्यता की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया सतत होती रहती है। इन दोनों संस्कृतियों में आदान-प्रदान की यह क्रिया-प्रतिक्रियासतत चलती रही है और इसी के द्वारा दोनों सस्कृतियों का निर्माण हुआ है।

डा. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक साहित्य को पांच भागो में विभक्त किया है–

1. लोकगीत
2. लोकगाथा
3. लोककथा
4. लोकनाट्य
5. लोक सुभाषित

(लोक सुभाषित के अंतर्गत मुहावरे, लोकोक्तियां, सुक्तियां, बच्चों के गीत, पालने की गीत, खेल के गीत आदि सभी प्रकार के विषयों का अंतर्भाव किया जा सकता है इसको प्रकीर्ण साहित्य की संज्ञा भी दी जा सकती है।)

लोकसाहित्य के अंतर्गत लोकगीत का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाता है। गीत भावुक और संवेदनशील मानव के हृदय के स्वभाविक उदगार के रुप में प्रगट होते हैं। लोकगीत वे गीत हैं जिनका प्रधान तत्त्व ज्ञेयता है। गीत वस्तुतः रागात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें जीवन का राग प्रगट होता है। मानव की आदिम प्रवृतियां (प्रेम वात्सल्य, करुण, हास्य) एक समान होने के कारण सभी प्रांतों और जातियों के गीतों में समानता देखी जा सकती है। लोकगीत विभिन्न संस्कारों, विभिन्न ऋतुओं तथा विभिन्न त्योहारों के अवसर पर गाए जाते हैं। खेतों और घरों में काम करते समय परिश्रमजनित थकावट को दूर करने के लिए भी इनका उपयोग होता हैं। जीवन में इनका व्यापक प्रचार है। डा. विद्या सिन्हा के अनुसार लोकसाहित्य का सबसे अधिक व्यापक, विविध, प्रिय, प्रचलित रुप लोकगीत है। मनुष्य की अनुभूतियों को उसके सामाजिक जीवन

से जुड़ कर जो भाव प्रवण अभिव्यक्ति मिली वही लोकगीतों के विविध प्रकारों में व्यक्त हुई। लोकगीत सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। वे मनुष्य प्रकृति और सामाज के सहज पारस्परिक संबंधों को अकृत्रिम ग्रामीण जन जीवन के बीच कर्मक्षेत्र जीवन यापन और जिजीविषा के साथ व्यक्त करते हैं। लोकगीत विविध संस्कारों के दौरान ऋतुओं के स्वागत में कृषि कर्म करते हुए गाए जाते हैं। लोकगीतों की आयु निश्चित करना कठिन है। वे अमर सृष्टियां हैं। वैरियर एल्वीन का कहना है –लोकगीत केवल इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उनका संगीत स्वरुप और वर्ण्य विषय जनता के जीवन का अंगभूत बन गया है। प्रत्युत्त उनकी महत्ता इससे अधिक है। इन मनोरम गीतों में इन व्यवस्थित एवं प्रतिष्ठित लेख पत्रों में हमें मानव विज्ञान संबंधी तथ्यों की प्रमाणीभूत सामग्री उपलब्ध होती है। मानव विज्ञान वेत्ताओं को अपने सिद्धांतों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए लोकगीतों को छोड़कर कोई दूसरा सच्चा एवं विश्वासपात्र साक्षी उपलब्ध नहीं हो सकता। लोकगीत उस खान के समान है जिसके खोदने का कार्य अभी प्रारंभ ही नहीं हुआ है यदि इन गीतों का प्रकाशन किया जाय तो इनकी प्रत्येक पंक्ति में ऐसी बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होगी जिससे भाषा शास्त्र संबंधी अनेक समस्याएं सुलझाई जा सकती है। कृष्णदेव उपाध्याय का कथन है 'किसी देश के लोकगीत उस देश की जनता के हृदय के उदगार हैं वे उनकी हार्दिक भावनाओं के सच्चे प्रतीक होते हैं यदि किसी देश की सभ्यता का अध्ययन करना हो तो सर्वप्रथम उनके लोकगीतों का अध्ययन करना होगा। लोकगीत लोकमानस की वस्तु है अत: उनमें जनता का हृदय लिपटा रहता है।?

'लोकगीतों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा. रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है 'भारतीय जनता का सामान्य स्वरुप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्राम गीतों की ओर ही ध्यान देने की आवश्यकता है। केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परंपरा का अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है। जब जब शिष्टों का काव्य पंडित बन कर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा। डा. विश्वनाथ के शब्दों में कहें तो लोकगीतों में जन-जीवन की सच्ची झांकी है। गृहस्थ का निर्मल दर्पण है। भारतीय संस्कृति की सुनहरीशृंखला है काव्य का सरल सहज सौंदर्य है। भाषा का बहता नीर है। समाज और लोकोचार का सजीव इतिहास

है। नर नारियों के मनोभावों और सुखदु:ख के अनुभूतियों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भंगिमाएं भी तथा विज्ञान की उपयोगी सामग्री भी है। जिसका जिस पक्षमें रुचि हो उसका स्वाद लें। लोकगीतों के संदर्भ में कहा जाता है, जो जातियां जितनी अधिक परंपरा प्रेमी है उनके लोकगीतों में उतनी ही अधिक अन्विति रहती है। परंपरा निरी रुढियां नहीं है, उनमें विकास के बीज वर्तमान रहते हैं, जबकि रुढियां किसी समाज के सिरोभार से अतिरिक्त कुछ नहीं होती। भारतीय जन परंपराओं के पुजारी हैं, रुढियों के गुलाम नहीं। प्रतिभा दूबे के अनुसार "उच्च वर्गीय शिष्ट समाज ने अपने कृतित्त्व को लिपिबद्ध किया और अध्ययन -अध्यापन की परंपरा द्वारा समस्त अर्जित ज्ञान को सुरक्षित एवं संरक्षित रखने का प्रयास किया। इसके विपरीत निम्न वर्गीय सामान्य जनता पठन पाठन की सुविधा से वंचित रही अत: सुविधा वीहिन लोकजन ने अपने संस्कारों, रिवाजों, परंपराओं एवं संस्कृति को लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककथाओं एवंलोकनाट्यों के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास किया अन्य की अपेक्षा लोकगीत लोकसाहित्य की सबसे सशक्त विधा है। लोकमन की रसवती गंगा लोकगीतों में अपने सम्पूर्ण आवेग, संवेग और संवेद के साथ प्रवाहित होती है। इन गीतों में लोकजीवन के समस्त रीति रिवाज, लोकपरंपराएं, धार्मिक कृत्य, विधान, मिथक लोककथाए, युगबोध एवं प्रतिरोध आदि सबकुछ सुरक्षित है।

भारतीय जनमानस ने जन्म से लेकर मृत्यु तक विविध संस्कारों को अपनी लयपूर्ण संगीतात्मक सहज भावनाओं के साथ उत्सव एवं समायोजन के रुप में सजाया है। प्रत्येक अंचल की अपनी परम्परा से जुड़े गीत तीज-त्योहार,विवाह,संस्कार तथा अनेक अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत आज हमारी भारतीय सस्कृति की अमूल्य नीधि है। शिशु जन्म से लेकर मनुष्य की अंत्येष्टि तक के समूचे चित्र हमारे लोकगीतों में विद्यमान हैं। संतान के जन्म से संबंधित गीतों को मुख्य रुप से जंती और सोहर कहा जाता है। सोहर के विविध रुप देखे जा सकते हैं। गर्भवती स्त्री की अवस्था को लेकर गाए जाने वाले सोहर गीत, शिशु जन्म के सोहर गीत, शिशु के विविधसंस्कार पर आधारित जैसे खेलावन, छठी पूजन, आंख अजाई, बधैया इत्यादि। जनजीवन में लोकगीत की व्यापकता एवं प्रचुरता के आधार पर लोकगीतों का श्रेणी विभाजन निम्नलिखित पांच प्रकार से किया गया है–

1. संस्कारों की दृष्टि से–जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु के बाद तक हिंदू जीवन विभिन्न संस्कारों से सम्बद्ध है। हमारे धर्मशास्त्रियों ने षोडस (सोलह) संस्कारों का विधान किया है जिनमें गर्भाधान, पुंसवन, पुत्रजन्म, मुंडन यज्ञोपवीत

विवाह और मृत्य प्रधान है। इनमे भी प्रथम दो संस्कारों की प्रथा अब नहीं है अत: आजकल शेष पांच संस्कार ही प्रधान रुप से संपादित किए जाते हैं। जन्म के अवसर पर गाए जाने वाले सोहर तथा शिशु के बड़े होने के साथ साथ उनके विकास के विविध चरणों से सम्बद्ध संस्कारों जैसे मुंडन जनेउ और विवाह से सम्बंधित गीत लगभग सभी भारतीय बोलियों में थोड़े बहुत अंतर के साथ मिलते है। अपने क्षेत्रीय रीति रिवाजों के अनुरुप विवाह संस्कार के अंतर्गत वर और कन्या पक्ष में अलग अलग प्रकार के गीत मिलते हैं। कुछ लोकगीत जैसे शगुन, भैया गीत, तिलक, चुमावन, संझा, प्राती, पितर नेवतन, हल्दी चढाई, शिव विवाह, राम विवाह आदि दोनो पक्षों में समान रुप से गाए जाते हैं। बेटे के विवाह में बन्ना, टोना, नहछु, सेहरा और बेटी के विवाह में द्वारपूजा, परिछन, कन्या निरीक्षण, लावा मेराई, कन्यादान, सोहाग, कोहबर, उपटन, झूमर, मतझका, बेटी विदाई आदि विविध प्रकार के गीत गाए जाते हैं। घर में बहु आने के बाद वर के घर में गाए जाने वाले गीत हैं पुतोहु परिछन, दौरा में डेग धराई (टोकरी में पैर रखना) गोर लगी (पैर छूना) चौठारी (चौथे दिन की लोकरीति) नहावन (स्नान) गौना (लडकी की विदाई) आदि के गीत संस्कार गीतों के अंतर्गत रखे जाते हैं।

2. रसानुभूति की दृष्टि से– लोकगीत विविध रसों से परिपूर्ण ऐसी धारा है जो वर्षो से चारों दिशाओं में प्रवाहित हो रही है श्रृंगार, वीर, करूण, हास्य, शांत रस पर आधारित विविध लोकगीत इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। सोहर, झूमर रति सम्बंधित गीत श्रृंगार रस और गौना जैतसार निर्गुण रोपनी तथा सोहनी आदि के गीतों में करूण रस की मार्मिकता आज भी सम्वेदनशील प्राणी को भावविभोर कर देती है।

3. ऋतुओं तथा व्रतों के क्रम से–ऋतुओं के आधार पर रचे गए लोकगीतों में सावन ऋतु में कजली हिंडोला वसंत ऋतु में होली बारहमासा और वसंत के बाद चैत आदि ऋतुओं में श्रृंगार और रोमांस की अभिव्यक्ति सहज ही देखी जा सकती है। श्रृंगार की मादकता मदमस्तता प्राकृतिक सौंदर्य का अवलम्ब पा कर स्वत: ही इन गीतो के रुप में अभिव्यक्त हो उठती है।

व्रतों के अवसर पर स्त्रियां विभिन्न गीत गा कर अपने श्रद्धा भाव को अभिव्यक्ति देती है। श्रावण शुक्ल पंचमी जिसे नाग पंचमी के नाम से जाना जाता है बिहार के मिथिला प्रांत के नवविवाहितों के लिए यह विशेष पर्व होता है, जो पंद्रह दिनो के लगातार विधिवत पूजा अर्चना के साथ सम्पन्न किया जाता है। इस अवसर पर नाग देवता से सम्बंधित गीत गाए जाते है। इसी प्रकार भाद्र पद कृष्ण

पक्ष के चतुर्थी को बहुरा का व्रत किया जाता है। कार्तिक शुक्ल द्वितीया को गोधन की पूजा की जाती है तथा इसी पक्ष की षष्ठी तिथि को संतानहीन स्त्रियां छठी माता का व्रत करती हैं। राजस्थान में तीज तथा गनगौर त्योहार स्त्रियां बड़े उत्साह के साथ मनाती है। उपरोक्त सभी पर्वो और व्रतों के अवसर पर विविध प्रकार के गीत गाने की परम्परा देखी जा सकती है।

4. विभिन्न जातियों के गीत–जाति विशेष के लोगों द्वारा गाए गए गीतों को इस श्रेणी में रखा जाता है। हिंदू समाज का कोई कोना ऐसा नहीं जहां जाति प्रथा का दखल न हो। लोकगीतों में भी जातिगत भेद पाए जाते हैं, बिरहा अहीर जाति के लोगों का राष्ट्रीय गीत है। पचरा दुसाधो का गीत है। गोडो में गोडऊ गीत गाया जाता है। कहार धोबी चमार और गड़ेरिया के अपने अपने गीत हैं। राजस्थान की अनेक जातियां जिनका जीवनयापन ही विशेष लोकगीतों के गायन पर निर्भर करता है जैसे घाड़ीभोया आदि जातियों के ये गीत उनकी सम्पत्ति है जिनका गायन ये लोग ही करते है।

5. श्रम के आधार पर–दिनभर के थके हारे मन को सामूहिक आनंद चाहिए जिसकी परिणति लोकगीत और लोक-नृत्य में होती है। इन गीतों का उद्देश्य परिश्रम के बाद दिनभर की थकान को दूर करना होता है। खेत में धान रोपते समय स्त्रियां जो गीत गाती है, उन्हें रोपनी के गीत कहते है इसी प्रकार खेत निराते समय के गीत निरवाही या सोहनी के नाम से प्रसिद्ध है। जंतसार उन गीतो को कहा जाता है जिन्हें जंता (चक्की) चलाते समय स्त्रियां गाती है। चर्खा गीत चर्खा चलाते समय गाया जाता है इस प्रकार श्रम के कार्यों की थकान और एकरसता को दूर करने के लिए इन लोक गीतों की रचना की जाती है। अत: वैदिक काल से चली आ रही गीतों की यह परम्परा आज तक वाचिक परम्परा के रूप में लोक समाज में विद्यमान है। लोकगीतों की परम्परा जीवन की सच्चाई खोजने की परम्परा है जो ना जाने कितने युगों से चली आ रही है और ना जाने कितने हजार युगों तक जायेगी। इससंदर्भ में डा. नामवर सिंह का मत उल्लेखनीय है-'इसमें कोई शक नहीं कि मशीनीयुग ने लोकसाहित्य विशेषत: लोकगीतों की रचना को गहरा धक्का पहुंचाया है। ..जहाज्रानी और रेल ने हमारे देश के मध्य युगीन नौका-व्यापार को इतनी गहरी ठेस पहुचाई कि नावों की लम्बी यात्रा समाप्त हो गई और उनके साथ-साथ उन यात्राओं की कहानियां और गीत भी चले गए...आधुनिक युग की मशीनों से हमारा रागात्मक संबंध इतना गहरा हो सका है कि वे लोकगीत के प्रेरक बन सके। बिजली की रोशनी फेल हो चुकी हैफिर भी मिट्टी का दिया ही हमारी कल्पनाओं और भावों का सम्बल है। कहने का

अभिप्राय यह है कि जनजीवन के परिवर्तन के साथ-साथ लोकगीतो में भी परिवर्तन हो सकता है। बदलते हालात में लोकगीत भी नए रूपों में जन-जीवन बनते सवरते रहते हैं यही वजह है कि बिदेशिया के एक लोकगीत में रेलगाडी परदेश गए पत्ति की पत्नियों के लिए सौत और बैरी बन जाते हैं इस गीत में ग्रामीण सस्कृति पर रेल के (मशीनों) क्रांतिकारी प्रभाव को साक्षात महसूस किया जा सकता है, अत: स्पष्ट है कि लोक गीत जन-जीवन से प्रभावित भी होता है और प्रभावित करता भी है।

लोकगीत का साहित्यिक स्वरूप

आदिकाल से अपनी विविधता और संवेदनात्मक ऊर्जा के सहारे लोकगीत आज भी जीवित है, साथ ही बेहद लोकप्रिय है। जनमानस के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान ये लोकगीत किसी सम्राट की भांति सुशोभित हो रहे हैं। वास्तव में ये सब के सुख-दुख के साथी रहे हैं। सभी को सांत्वना देते निरन्तर गतिमान रहते हैं। इतना ही नहीं, अपने में समाज की हलचल समेटते चलते हैं। इनमें आनन्द की नई दिशाएं खोल देने की क्षमता है। एक सूत्रात्मक भाषा में यही कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि लोकगीत मानव हृदय की सहज धड़कन है। सृष्टि के सम्पूर्ण बिंब लोकगीतों में जीवंत हो गए हैं। जिस दिन यह धड़कन बंद हो जाएगी उस दिन समाज, संस्कृति, साहित्य सभी निष्प्राण हो जायेंगे। यदि कुछ बचा भी रहेगा तो वह देखने, सुनने और प्रयोग करने लायक नहीं रहेगा। इनमें तो लोकजीवन का समूचा इतिहास समाया रहता है। जो रचना अपनी माटी से जुड़ी होती है तथा जिसमें मानवता की व्यथा कथा समाहित होती है वही कालजयी होती है। लोकगीतों की यात्रा कब और कहां से शुरू हुई यह कोई नहीं जानता। जब से पृथ्वीलोक पर मानव जाति का प्रादुर्भाव हुआ तभी से इनका भी उद्‌गम माना जाता है। लोकगीत में बदलते परिवेश के साथ अपने आप को बदलने, नित्य नवीन रूप से आगे बढ़ने की अपूर्व क्षमता भी है शायद इसी विशेषता के कारण निरन्तर गतिशील, चिर नूतन और सनातन है। लोकगीत समाज और संस्कृति की अनमोल धरोहर है जिसने अपनी विपुल शब्द संपदा से राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी समृद्ध बनाने का प्रयास किया।

लोकगीत अनेक भाषाओं में कई प्रकार की धुनों के साथ प्रचलित है। यह एक ऐसी अनोखी विद्या है जो पूर्ण स्वतंत्र है चाहे जिस भी ढंग से गा लो, बजा लो ये अपनी छवि अंकित कर ही देते हैं। लोकगीतों का कोई निश्चित रूप,

नियम या क्षेत्र स्थापित नहीं है। ये तो सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि इनमें कथ्य, तथ्य के कारण लय भी है। यहीं लय सुष्टि के कण-कण में समाया है उस लय और सौन्दर्य की खोज करना जीवन की सच्ची यात्रा है। लोकगीत इसी शाश्वत यात्रा का सहचर है। लोकगीतों में परम्परागत व आधुनिक दोनों ही प्रकार के वाद्ययंत्रों का उपयोग हो रहा है। यदि फिल्मों के इतिहास पर दृष्टि घुमाएं तो स्पष्ट हो जाता है कि वही फिल्में सफल रही हैं जिनमें गीत लोकशैली में लिखे और गाये गये हैं। वर्तमान समय लोकधुनों पर आधारित अनेकों गीत फिल्मों में मिल रहे हैं इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों से आज सर्वत्र भारी मात्रा में हो रहा है। इनकी लोकप्रियता देश-विदेश में भी बढ़ती ही जा रही है। इनमें समाज के उत्थान पतन, हर्ष, विषाद का चित्रण तो कभी सुख समृद्धि की लहरें, जीवन संघर्ष की कटुताएं, सामाजिक बंधनों एवं रीति-रिवाजों का चक्र परिलक्षित होता तो कभी मिलन की मुस्कान दिखाई दी है। कहीं देश प्रेम की भावना तो कहीं प्रकृति सौन्दर्य जिस प्रकार एक मिट्टी में उपजे पुष्प अपनी अलग-अलग खुशबू देते हैं उसी प्रकार ये लोकगीत अलग-अलग आनन्द प्रदान करते हैं। सच पूछो तो ये लोकमानस का दर्पण है जिसमें अतीत से भविष्य तक का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

समाज में भी लोकगीत को अपने से पृथक रखकर समय भी अपनी पहचान नहीं बना पाता है। लोकगीत सहज ही मन को आकर्षित कर लेते हैं ये इतने सरल और सुलभ होते हैं कि निरक्षर ग्रामीण महिलाएं, पुरुष, बच्चे और बूढ़े सभी इसका आनन्द उठाते रहते हैं। कृषि का काम करती महिलाएं उमंग उत्साह में आकर इन गीतों में इतना खो जाती हैं कि मेहनत का पता ही नहीं चलता। इसी प्रकार दिनभर कड़ी मेहनत मजदूरी करने के बाद श्रमिकों का दल रात्रि में अपने लोक वाद्यों की गूंज के साथ लोकगीत और लोकनृत्य में मस्त होकर नाचते-गाते कभी नहीं थकते बल्कि दिन भर की थकान भी भूल जाते। सचमुच लोकगीतों के द्वारा नई शक्ति का संचार होता है तभी तो इसके सानिध्य में अपार सुख शांति और खुशी अपने आप मिलती है। इतना ही नहीं, मुसीबतों में भी मुस्कुराने और विपरीत परिस्थितियों में भी आगे बढ़ने की हिम्मत इन्हीं से पाई है। लोक जीवन में जो भी घटित होता है उसे लोकगीतों में देखा जा सकता है। लोक साहित्य का लक्ष्य मनुष्य है। मनुष्य ही उसके चित्रण और अभिव्यक्ति का आधार है। जो रचना, मनुष्य को अलग रखकर कड़ी होती है वह समय के एक थपेड़े में ही धराशाई हो जाती है। लोकगीतों में सभी भाव स्पष्ट रूप से दिखाई

पड़ते हैं चाहे शादी हो या कोई धार्मिक पर्व, जन्म हो या मृत्यु, सुख हो या दुख सभी प्रकार के माहौल में इन गीतों की मौजूदगी अवश्य रहती है। लोकगीत किसी धर्म, जाति, भाषा, या प्रांत के बंधन में कभी नहीं बंधा उसने तो स्वतंत्रता जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में पाई है।

लोकगीत भारतीय संस्कृति का वास्तविक स्वरूप अपने अंदर छिपाए निरन्तर आगे बढ़ते रहे इसलिए काल के क्रूर हाथों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आज भी इनकी पकड़ काफी मजबूत है जो मानवजीवन के हर गलियारे को अपनी लयात्मक और रसमयता से सराबोर करते चलते हैं। ये उस जलयान जैसे हैं जिसके आसपास कुछ दूर जाकर पंछी चैतरफा पंख मारकर थका–हारा पुनः वहीं वापस आ जाता है। ये गीत हमारी स्मृतियों को ताजा कर देते हैं तभी तो बूढ़े भी बच्चों की तरह नाचने–गाने के लिए उछल पड़ते हैं। इनमें इतिहास की गौरवगाथा भी छिपी रहती है। जिन्हें सुनकर हमारी धमनियों में संचरित लहू उफान मारने लगता है। लोकगीत आने वाली पीढ़ी के समक्ष पौराणिक आदर्श प्रस्तुत करने में कुशल ही नहीं, अपितु सफल भी हैं। इन गीतों में प्रेम, मानवता, चरित्र और बंधुत्व की भावना कूट–कूट कर भरी होती है। इतिहास और शास्त्र जहां उत्तर नहीं दे पाते वहीं लोकगीत अपनी सरलता और मधुरता के बल पर पूरी व्यथा को ध्वनित कर देता है। परिवर्तन के दौर में विचलित मन को ये गीत काफी धीरज प्रदान करते हैं। बहुपयोगी लोकगीतों की महिमा में जितना भी कहा जाये कम ही होगा फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि लोकगीत संजीवनी की भांति मृतकों में प्राण फूंक रहे हैं। प्रकृति, व्यक्ति और परिस्थिति की आज उसके विभिन्न रूपों को निरख–निरख आनंदित है। कविता, कहानी, नाटक की तुलना में लोकगीतों की संख्या ज्यादा हो सकती है पर इनका संग्रह विधिवत नहीं हो सकता।

इसलिए ये क्षेत्रीय विशेष बनकर रह गये। अलग–अलग प्रांतों में विभिन्न भाषा और भिन्न–भिन्न रूपों में इनकी रचना हुई। लय, ताल और लोकवाद्यों में भी बदलाव आये फिर भी मंचों पर लोकगीत, लोकनृत्य सदैव सराहे गये। लोककला के क्षेत्र में सबसे अधिक विकसित और प्रचलित यही एक विधा है। लोकगीतों ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित की है। संस्कृति के आदान–प्रदान में इनका विशेष योगदान रहा। लोकगीतों की श्रृंखला में एक से बढ़कर एक कलाकार जुड़ते रहे और आपनी कुशलता के द्वारा इन गीतों को गति देते रहे। आज लोकगीत इस मुकाम पर है कि सारा आयाम इनसे प्रभावित है। विशेष भाषाशैली

का मिश्रण होने से लोकगीत विभाजित भी हुए जैसे बुन्देलखण्डी, मालवी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मराठी, बंगाली, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, आसामी, उडिया, गौंडी, नेपाली, ब्रजभाषी इत्यादि कई भाषाओं के आधार पर इनका विभाजन हुआ। मध्यप्रदेश में आदिवासी, छत्तीसगढ़ी, बुन्देलखण्डी लोकगीतों के अलावा मालवी, गोंडी, बघेली, ब्रजभाषी लोकगीतों का ज्यादा चलन है। मध्यप्रदेश की सीमा से जुड़े अन्य प्रदेशों के लोकगीतों का प्रवेश धीरे-धीरे हुआ है, किन्तु वे अल्पसंख्यक हैं।

लोकगीतों की धुनों में हमारे यहां होली, दीवाली, रसिया, लांगुरिया, बंधाई, बन्ना, शैलगीत, लहंगी, पंडवानी, करमा, साखी, चौमासा, रमटेश, ढोला, शजनई दादरा, कहरवा, भजन, देवी गीत इत्यादि प्रमुख है। लोकगीतों के गाने का ढंग भी सबका अलग-अलग होता है कोई सामूहिक रूप से गाते हैं तो कोई एकल। कुछ गीत तो मूलतः पारम्परिक होते हैं। उनमें प्रचलित वाद्य ही प्रयोग कर सकते हैं, दूसरे वाद्य यंत्रों की आवश्यकता कम ही पड़ती है। वर्तमान समय आधुनिक वाद्य यंत्रों की अधिकता के कारण प्रायः ये लोकवाद्य दुर्लभ होते जा रहे हैं क्योंकि इनको बनाने वाले लोग भी कम रह गये हैं और ये महंगे भी पड़ते हैं। कुछ असुरक्षित भी रहते हैं। इन तमाम कारणों से प्राचीन वाद्यों की संख्या धीरे-धीरे कम हो रही है यह ठीक नहीं अगर यही हाल रहा तो केवल भारत भवन जैसे स्थानों में ही इनके दर्शन हो सकेंगे। आज आवश्यकता इस बात की है कि इतनी अनमोल धरोहर जो हमें विरासत में मिली उसकी रक्षा कैसे की जाये? लोकगीतों के व्यापक स्वरूपों को ध्यान में रखते हुए उनके उत्थान हेतु कुछ ठोस कदम उठाने की जरूरत है। शासन और लोक कलाकारों के बीच ऐसा आपसी तालमेल स्थापित होना चाहिए जिससे उन गीतों का मूल्य तत्त्व नष्ट न हो और परम्परा का निर्वाह भी भलीभांति होता रहे। फिलहाल यही कहा जा सकता है कि लोकगीतों की लोकप्रियता दिनोंदिन बढ़ते ही जा रही है इससे ऐसा लगता है कि इसका भविष्य उज्ज्वल है।

राजस्थानी लोकगीत

राजस्थान का लोकगीत साहित्य बहुत घना है। जन्म के गीत सोहर को यहाँ 'हालरा' कहते हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व तक उत्तर प्रदेश के उस क्षेत्र में जहाँ अवधी एवं भोजपुरी बोलियाँ संगम करती हैं, किंगरिहा नाम की जाति पुत्रजन्म पर दरवाजे दरवाजे जाकर विशेष गीत गाती थी जिसके बोल 'लाले हालर' हैं।

इस क्षेत्र में प्राय: यह गीत अब सुनने को नहीं मिलता। राजस्थान में गाया जानेवाला हालरा समाप्ति के लिए स्वतंत्र हैं। जैसे, मारे वीरे जी रे बेटो जायोश। झाड़ूलो' मुंडन के गीतों को कहते हैं। यहाँ प्रत्येक शुभ कार्य की पूर्ति के लिए स्त्रियों द्वारा विनायक गीत' गाकर गणेश को प्रसन्न करने की परंपरा है। विवाह में आरंभ से लेकर अंत तक जब जब गीत आरंभ होता है, पहले विनायक वंदना अवश्य होती है –गढ़ रणत भँवर सूँ आवो विनायक।' पीठी' गीत लगन आरंभ होने के बाद भावी वर वधू को नियमत: उबटन लगाते समय गाया जाता है –मगेर रा मूँग मँगायो ए म्हाँ री पीठी मगर चढ़ावो एश। विवाह होने के पूर्ववाली रात को यहाँ मेहँदी की रात' कहा जाता है। उस समय कन्या एवं वर को मेहँदी लगाई जाती है और मेहँदी गीत गाया जाता है –मँहदी वाई वाई बालड़ा री रेत प्रेम रस मँहदी राजणी। विवाह में वर के माथे पर मौर बाँधते समय सेवरो' (सेहरा) गाया जाता है –म्हाँरे रंग बनड़े रा सेवरा। बारात जब विवाह के लिए चलती है तो दूल्हे को घोड़ी पर बैठाया जाता है। उस समय घोड़ी गीत गाया जाता है। जैसे, –घोड़ी बाँधों अगर रे रूंख मोड दरवाजे चंपेरी दोय कलियाँ वे।

राजस्थानी बोली में कामण नामक एक गीत गाया जाता है। कामण का अर्थ जादू टोना है। यह गीत उस समय गाते हैं जब बारात विवाह के लिए वर के घर से चलती है –काँगड़ आया राई वर धरहर कंप्या, राज बूझां सिरदार बनी ने कामण कूण कइया छै राज। राजस्थानी स्त्रियाँ जब वर एवं बारात, का न्योता देने के लिए जनवासे में जाती हैं अथवा जब वे कुम्हार की चाक पूजने जाती हैं तो जलो गीत' गाती हैं जैसे –जला जी मारू, म्हे तो थां डेरा निरखण आई हो मिरणा नैणी रा जलाल। हस्ताधान से लेकर विवाह तक प्राय: प्रतिदिन वर कन्या के घर बनड़े बनड़ी के गीत गाए जाते हैं। जैसे –काँची दाख हेठे बनडी पान चावै, फूल सूँघे करे ए बाबेजी, सूँ बीनती।' बधू जब पीहर से विदा होती है तो आलूँ' गीत गाया जाता है जो बहुत ही करुण होता है –म्हे थाने पूछाँ म्हाँ री घवड़ी इतरो बाधे जी रो लाड़ छोड़ र, बाई सिघ चाल्या।' इसी प्रकार बधावै' भी विदा गीत ही है।

भात भरना राजस्थान की एक महत्वपूर्ण प्रथा है। इसे माहेरा' भी कहते हैं। जिस स्त्री के घर पुत्र या पुत्री का विवाह पड़ता है वह घर की अन्य स्त्रियों के साथ परात में गेहूँ और गुड़ लेकर नैहरवालों को निमंत्रण देने जाती है। इसको भात' कहते हैं। मूल रूप में भात भाई को दिया जाता है। भाई के अभाव में पीहर के अन्य लोग माहेरा' स्वीकार कर वस्त्र तथा धन सहायता के रूप में देते हैं।

इस अवसर पर भात गीत की तरह अनेक गीत गाए जाते हैं। एक प्रसिद्ध गीत की पंक्ति है –थारा घोड़लिया शिण गारो, जी मारूंजी भात भरण ने चालो रूड़े भाण जै'। जब बारात ब्याह के लिए चली जाती है तो वर पक्ष की स्त्रियाँ रात के पिछले पहर में राती जागो' नामक गीत गाती हैं। देवी देवताओं के गीतों में माता जी', बालाजी' (हनुमान जी), भेरूँ जी, सेड़ल माता, सतीराणी, पितराणी आदि को प्रसन्न करने की भावना छिपी है। सबके अलग अलग गीत होते हैं।

राजस्थानी स्त्रियाँ कार्तिक शुक्ल पक्ष में तुलसी का त्यौहार मनाती हैं। तीन दिनों का व्रत रखती हैं तथा पूजन के अवसर पर गाती हैं –धन बाई तुलछाँ धन धन थारो नाम। धनवाई, तुलछाँ उत्तम काम।' क्वाँरी लड़कियों का त्यौहार गँवर है जो उत्तम वर की प्राप्ति के लिए चैतमास में होलिकादहन के दूसरे दिन से शुक्ल चतुर्थी तक मनाया जाता है। इसे गणगौर भी कहते हैं। गौरी पूजन करते समय जो गीत गाए जाते हैं उनमें प्रमुख गीत की पंक्ति हैं –हे गवरल रूड़ो है न जारो तीखा है नैणां रो, गढ़ां है कोराँ-सूँ गवरल ऊतरी। गणगौर के प्रसिद्ध मेले में गौरी प्रतिमा की शोभायात्रा निकाली जाती है और गाया जाता है –गवर गिण गोर माता खोल किवाड़ी। शीतलाष्टमी के पश्चात् मिट्टी के कूँड़े में गेहूँ या जौ बाए जाते हैं, उनकी जई से गौरीपूजा की जाती है। इसके गीत अलग होते हैं। पूजन के लिए फूल चुनते समय अन्य गीत गाए जाते हैं। पूजन करनेवाली कन्याएँ घुड़ला (छिद्रोंवाला घड़ा जिसमें दीपक जलता रहता है) लेकर गाती हुई अपने सगे संबंधियों के यहाँ जाती है। इसे घुड़ला घुमाना' कहा जाता है। गीत है –घुड़लो घूमै छै जी घूमै छै।' तीज यहाँ का सर्वाधिक प्रिय पावसकालीन पर्व है। जैसे अवधी एवं पूर्वी हिंदी क्षेत्र में सावन भादों में कजली के लिए स्त्रियाँ पीहर में बुलाई जाती हैं, उसी प्रकार तीज के अवसर पर राजस्थानी स्त्रियाँ भी नैहर में बुलाई जाती है। तीज के गीतों में भाई-बहन के शुद्ध प्रेम के गीत गाए जाते हैं जैसे, सुरंगी रूत आई म्हारे देश। होली के अवसर पर भी लड़कियाँ गीत गाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से गीत हैं। पनिहारी गीत राजस्थान के प्रमुख लोकगीत हैं जो पनिहारिनों द्वारा सामूहिक रूप से सिर पर जल से भरे घड़े लेकर घर जाते आते गाया जाता है। दांपत्य प्रेम के अनेक गीत हैं। इनमें पक्षी प्रियतम को संदेश ले जाते हैं। वृक्ष भी मनुष्य की तरह बातें करते हैं। बालिकाएँ खेलते समय बड़े सुंदर सुंदर भोले गीत गाती हैं। राजस्थानी लोकनायकों, वीर सिपाहियों पर आधारित अनेक गीत मिलते हैं जो विभिन्न धुनों में गाए जाते हैं। गोगोजी' रामदेव जी, उमादे (रूठी रानी)

की गीतकथा (जो जैसलमेर के रावल लूणकरण की लड़की थी), राजपूत जोर सिंह तथा राणा काछवे' के पद्यगीत खूब गाए जाते हैं। (दे. राजस्थान रिसर्च सोसाइटी द्वारा प्रकाशित राजस्थान के लोकगीत)।

राजस्थान के कुछ प्रमुख लोकगीत निम्न प्रकार हैं–

1. झोरावा गीत–जैसलमेर क्षेत्र का लोकप्रिय गीत जो पत्नी अपने पति के वियोग में गाती है।

2. सुवटिया–उत्तरी मेवाड़ में भील जाति की स्त्रियां पति -वियोग में तोते (सूगे) को संबोधित करते हुए यह गीत गाती है।

3. पीपली गीत–मारवाड़ बीकानेर तथा शेखावटी क्षेत्र में वर्षा ऋतु के समय स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला गीत है।

4. सेंजा गीत–यह एक विवाह गीत है, जो अच्छे वर की कामना हेतु महिलाओं द्वारा गाया जाता है।

5. कुरजां गीत–यह लोकप्रिय गीत में कुरजां पक्षी को संबोधित करते हुए विरहणियों द्वारा अपने प्रियतम की याद में गाया जाता है, जिसमें नायिका अपने परदेश स्थित पति के लिए कुरजां को सन्देश देने को कहती है।

6. जकड़िया गीत–पीरों की प्रशंसा में गाए जाने वाले गीत जकड़िया गीत कहलाते हैं।

7. पपीहा गीत–पपीहा पक्षी को सम्बोधित करते हुए गाया गया गीत है। जिसमें प्रेमिका अपने प्रेमी को उपवन में आकर मिलने की प्रार्थना करती है।

8. कागा गीत–कौवे का घर की छत पर आना मेहमान आने का शगुन माना जाता है। कौवे को संबोधित करके प्रेयसी अपने प्रिय के आने का शगुन मानती है और कौवे को लालच देकर उड़ने को कहती है।

9. कांगसियों–यह राजस्थान का एक लोकप्रिय शृंगारिक गीत है।

10. हमसीढो–भील स्त्री तथा पुरूष दोनों द्वारा सम्मिलित रूप से मांगलिक अवसरों पर गाया जाने वाला गीत है।

11. हरजस–यह भक्ति गीत है, हरजस का अर्थ है हरि का यश अर्थात हरजस भगवान राम व श्रीकृष्ण की भक्ति में गाए जाने वाले भक्ति गीत हैं।

12. हिचकी गीत–मेवात क्षेत्र अथवा अलवर क्षेत्र का लोकप्रिय गीत दाम्पत्य प्रेम से परिपूर्ण जिसमें प्रियतम की याद को दर्शाया जाता है।

13. जलो और जलाल–विवाह के समय वधु पक्ष की स्त्रियां जब वर की बारात का डेरा देखने आती है तब यह गीत गाती है।

14. दुप्पटा गीत–विवाह के समय दुल्हे की सालियों द्वारा गाया जाने वाला गीत है।

15. कामण–कामण का अर्थ है –जादू-टोना। पति को अन्य स्त्री के जादू-टोने से बचाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला गीत है।

16. पावणा–विवाह के पश्चात् दामाद के ससुराल जाने पर भोजन के समय अथवा भोजन के उपरान्त स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला गीत है।

17. सिठणें–विवाह के समय स्त्रियां हंसी-मजाक के उद्देश्य से समधी और उसके अन्य सम्बन्धियों को संबोधित करते हुए गाती है।

18. मोरिया गीत–इस लोकगीत में ऐसी बालिका की व्यथा है, जिसका संबंध तो तय हो चुका है, लेकिन विवाह में देरी है।

19. जीरो–जालौर क्षेत्र का लोकप्रिय गीत है। इस गीत में स्त्री अपने पति से जीरा न बोने की विनती करती है।

20. बिच्छुड़ो–हाड़ौती क्षेत्र का लोकप्रिय गीत जिसमें एक स्त्री जिसे बिच्छु ने काट लिया है और वह मरने वाली है, वह पति को दूसरा विवाह करने का संदेश देती है।

21. पंछीड़ा गीत–हाड़ौती तथा ढूढाड़ क्षेत्र का लोकप्रिय गीत जो त्यौहारों तथा मेलों के समय गाया जाता है।

22. रसिया गीत–रसिया होली के अवसर पर ब्रज, भरतपुर व धौलपुर क्षेत्रों के अलावा नाथद्वारा के श्रीनाथजी के मंदिर में गाए जाने वाले गीत है।

23. घूमर–णगौर अथवा तीज त्यौहारों के अवसर पर स्त्रियों द्वारा घूमर नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत है, जिसके माध्यम से नायिका अपने प्रियतम से शृंगारिक साधनों की मांग करती है।

24. औल्यूं गीत–ओल्यू का मतलब 'याद आना' है।बेटी की विदाई के समय गाया जाने वाला गीत है।

25. लांगुरिया–करौली की कैला देवी की अराधना में गाये जाने वाले भक्तिगीत लांगुरिया कहलाते है।

26. गोरबंध–गोरबंध, ऊंट के गले का आभूषण है। मारवाड़ तथा शेखावटी क्षेत्र में इस आभूषण पर गीत गाया जाता है।

27. चिरमी–चिरमी के पौधे को सम्बोधित कर बाल ग्राम वधू द्वारा अपने भाई व पिता की प्रतीक्षा के समय की मनोदशा का वर्णन है।

28. पणिहारी–इस लोकगीत में राजस्थानी स्त्री का पतिव्रता धर्म पर अटल रहना बताया गया है।

29. इडुणी–यह गीत पानी भरने जाते समय स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। इसमें इडुणी के खो जाने का जिक्र होता है।

30. केसरिया बालम–यह एक प्रकार का विरह युक्त रजवाड़ी गीत है जिसे स्त्री विदेश गए हुए अपने पति की याद में गाती है।

31. धुडला गीत–मारवाड़ क्षेत्र का लोकप्रिय गीत है, जो स्त्रियों द्वारा घुड़ला पर्व पर गाया जाता है।

32. लावणी गीत (मोरध्वज, सेऊसंमन–प्रसिद्ध लावणियां)–लावणी से अभिप्राय बुलावे से है। नायक द्वारा नायिका को बुलाने के सन्दर्भ में लावणी गाई जाती है।

33. मूमल–जैसलमेर क्षेत्र का लोकप्रिय गीत, जिसमें लोद्रवा की राजकुमारी मूमल का सौन्दर्य वर्णन किया गया है। यह एक श्रृंगारिक गीत है।

34. ढोला-मारू–सिरोही क्षेत्र का लोकप्रिय गीत जो ढोला-मारू के प्रेम-प्रसंग पर आधारित है, तथा इसे ढाढ़ी गाते है।

35. हिण्डोल्या गीत–श्रावण मास में राजस्थानी स्त्रियां झुला-झुलते समय यह गीत गाती है।

36. जच्चा गीत–बालक के जन्म के अवसर पर गाया जाने वाला गीत है इसे होलरगीत भी कहते है।

ब्रज के लोकगीत

ब्रजमंडल के निवासियों द्वारा गाए जानेवाले गीत भाषा और भाव की दृष्टि से अत्यंत सरस होते हैं। जन्म के गीतों में सोभर (सोहर), ननद भावज, नेगा के गीत, छठी के गीत और जगमोहन लुगरा नामक गीत प्रसिद्ध हैं। विवाह के गीतों में सगाई, पीली चिट्ठी, लगुन, भात न्योतना, हरद हात, रतजगा, तेल, घूरा पूजन, अछूता, मढ़ावा गाड़ना, भात, ब्याह का दिन, भाँवर, बढ़ार गीत, पलकाचार, रहस बधावा, बंदनवार, मुँहमड़ई, विदा, वरगी वर के घर, बहू नचना, दर्द देवता के गीत, लग्न के गीत, भात के गीत, रतजगे के गीत, सतगढ़ा, लाड़ी, गारी, खेल के गीत, पूरनमल और छद्म के गीत मुख्य हैं। त्यौहार, व्रत एवं देवी आदि के गीतों में देवीगीत, जाहर पीर, एकादशी का गीत, श्रावण गीत, कार्तिक के गीत, देवठान के गीत और होली उल्लेखनीय हैं। प्रबंध गीतों में पवाँरे, बहुला, सरमन

(श्रवण) ढोला, मदारी का ढोला, लवकुश के गीत और हिरनावती अधिक गाए जाते हैं। अन्य गीतों में टेसू माझी के गीत, चट्टों के गीत, तीर्थों के गीत, पुरहे के गीत, सिला बीनने के गीत, बधाया और हीरों का नाम आता है। मृत्यु के समय यहाँ के स्त्रियाँ भी हिंदीभाषी अन्य क्षेत्रों की भाँति पद्यमय रुदन (विलाप) करती हैं (दे. डाक्टर सत्येंद्र लिखित व्रज लोकसाहित्य का अध्ययन)।

विकासयात्रा

भारतीय आर्य भाषाओं की परंपरा में विकसित होने वाली "ब्रजभाषा" शौरसेनी भाषा की कोख से जन्मी है। संस्कृत का प्रचलन कम होने पर प्राकृत व अपभ्रंश के उपरांत विकसित साहित्यिक भाषा –भाखा या भाषा ही ब्रजभाषा के नाम से देश-राष्ट्र की साहित्यिक भाषा बनी। गोकुल में बल्लभ सम्प्रदाय का केन्द्र बनने के बाद से ब्रजभाषा में कृष्ण साहित्य लिखा जाने लगा और इसी के प्रभाव से ब्रज की बोली साहित्यिक भाषा बन गई। भक्तिकाल के प्रसिद्ध महाकवि सूरदास से आधुनिक काल के श्री वियोगी हरि तक ब्रजभाषा में प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्यों की रचना होती रही।

इसका विकास मुख्यतः पश्चिमी उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश में हुआ। मथुरा, अलीगढ़, आगरा, भरतपुर और धौलपुर जिलों में आज भी यह संवाद की भाषा है। पूरे क्षेत्र में ब्रजभाषा हल्के से परिवर्तन के साथ विद्यमान है। इसीलिये इस क्षेत्र के एक बड़े भाग को ब्रजांचल या ब्रजभूमि भी कहा जाता है।

यद्यपि पीलीभीत, शाहजहाँपुर, फर्रूखाबाद, हरदोई, इटावा तथा कानपुर की बोली को कन्नौजी नाम दिया है, किन्तु वास्तव में यहाँ की बोली मैनपुरी, एटा बरेली और बदायूं की बोली से भिन्न नहीं हैं। इन सब जिलों की बोली को 'पूर्वी ब्रज' कहा जा सकता है। बुन्देलखंड की बुन्देली बोली भी ब्रजभाषा का ही रुपान्तरण है। बुन्देली को 'दक्षिणी ब्रज' कहा जा सकता है।

साहित्यिक ब्रजभाषा के सबसे प्राचीनतम उपयोग का प्रमाण महाराष्ट्र में मिलता है। महानुभाव सम्प्रदाय तेरहवीं शताब्दी के अंत में सन्त कवियों ने एक प्रकार की ब्रजभाषा का उपयोग किया। कालान्तर में साहित्यिक ब्रजभाषा का विस्तार पूरे भारत में हुआ और अठारहवीं, उन्नीसवीं शताब्दी में दूर दक्षिण में तंजौर और केरल में ब्रजभाषा की कविता लिखी गई। सौराष्ट्र व कच्छ में ब्रजभाषा काव्य की पाठशाला चलायी गई, जो स्वाधीनता की प्राप्ति के कुछ दिनों बाद तक चलती रही थी। उधर पूरब में यद्यपि साहित्यिक ब्रज में तो नहीं साहित्यिक

ब्रज रूपी स्थानीय भाषाओं में पद रचे जाते रहे। बंगाल और असम में इन भाषा को 'ब्रजबुलि' नाम दिया गया। इस 'ब्रजबुली' का प्रचार कीर्तन पदों में और दूर मणिपुर तक हुआ। साहित्यिक ब्रजभाषा की कविता ही गढ़वाल, कांगड़ा, गुलेर बूंदी, मेवाड़, किशनगढ़ की चित्रकारी का आधार बनी और कुछ क्षेत्रों में तो चित्रकारों ने कविताएँ भी लिखीं। गढ़वाल के मोलाराम का नाम उल्लेखनीय है। गुरु गोविन्दसिंह के दरबार में ब्रजभाषा के कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग था।

उन्नीसवीं शताब्दी तक काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा का अक्षुण्ण देशव्यापी वर्चस्व रहा। इस प्रकार लगभग आठ शताब्दी तक बहुत बड़े व्यापक क्षेत्र में मान्यता प्राप्त करने वाली साहित्यिक भाषा रही। इस देश के साहित्य के इतिहास में ब्रजभाषा ने जो अवदान दिया है उसके बिना देश व साहित्य की रसवत्ता और संस्कारिता का मूल ही हमसे छिन जायगा। आधुनिक हिन्दी ने साहित्यिक भाषा के रूप में जो ब्रजभाषा का स्थान लिया है, वह स्थान भी ब्रजभाषा की व्यापकता के ही कारण सम्भव हुआ है। इस प्रकार से साहित्यिक ब्रजभाषा आधुनिक हिन्दी की धरती है। प्रारम्भिक अवस्था से ही ब्रजभाषा की धरती ने ही आधुनिक खड़ीबोली की कविता को अधिक लचीला बनाने की शक्ति दी उसके उक्ति विधान व सादृश्य विधान व मुहावरों ने प्रेरणा दी। सूक्ष्मता से यदि प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी की काव्यधारा का अध्ययन करें तो हमें ब्रजभाषा के प्रभाव से आई हुई लोच नजर आयेगी।

एक प्रकार से ब्रजभाषा ही मुक्तक काव्य भाषा के रूप में उत्तर भारत के बहुत बड़े हिस्से में एकमात्र मान्य भाषा थी। उसकी विषयवस्तु श्री कृष्ण प्रेम तक ही सीमित नहीं थी, उसमें सगुण-निर्गुण भक्ति की विभिन्न धाराओं की अभिव्यक्ति सहज रूप में हुई और इसी कारण ब्रजभाषा जनसाधारण के कंठ में बस गई। 1814 में एक अंग्रेज अधिकारी मेजर टॉमस ने 'सलेक्शन फ्रॉम दि पॉपुलर पोयट्री ऑफ दि हिन्दूज' नामक पुस्तक में सिपाहियों से संग्रहीत लोकप्रिय पदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस में अधिकतर दोहे, कवित्त और सवैये हैं, जो ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों के द्वारा रचित हैं एवं केशवदास के भी छन्द इस संकलन में हैं। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि, मौखिक परम्परा से ब्रजभाषा के छन्द दूर-दूर तक फैले और लोगों ने उन्हें कंठस्थ किया। उनके अर्थ पर विचार किया और उन्हें अपने दैनिक जीवन का एक अंग बनाया। इस मायने में साहित्यिक ब्रजभाषा का भाग्य आज की साहित्यिक हिन्दी की अपेक्षा अधिक स्पृहणीय है।

रचना बाहुल्य के आधार पर प्राय: यह समझा जाता है कि ब्रजभाषा काव्य एकांगी या सीमित भावभूमि का काव्य है। ब्रजभाषा काव्य का विषयमूल रूप सेश्रृंगारी चेष्टा-वर्णन तक ही सीमित है। साधारण मनुष्य के दु:ख-दर्द या उनके जीवन-संघर्ष का चित्र नहीं है पर जब हम भक्ति-कालीन काव्य का विस्तृत सर्वेक्षण करते हैं और उत्तर मध्यकाल की नीति-प्रधान रचनाओं में यह संसार बहुत विस्तृत दिखाई पड़ता है। चाहे सगुण भक्त कवि हों अथवा निर्गुण भक्त कविय आचार्य कवि हों, स्वछन्द कवि या सूक्तिकार सभी लोक व्यवहार के प्रति बहुत सजग हैं और इन सबकी लौकिक जीवन की समझ बहुत गहरी नुकीली है।

भारतेन्दु की मुकरियों में व्यंग्य रूप में सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया, सामान्य-जीवन के बिम्ब पर आधारित प्रस्तुत मिलती है–

सीटी देकर पास बुलावै, रुपया ले तो निकट बिठावै।
लै भागै मोहि खेलहि खेल, क्यों सखि साजन ना सखि रेल॥
भीतर-भीतर सब रस चूसै, हंसि-हंसि तन मन धन सब मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज॥

भूषण की तो बात ही क्या अनेक कवियों के भीतर धरती का लगाव, जो जन-जन के आराध्य आलंबनों से जुड़े हुए हैं, बहुत सरल ढंग से अंकित मिलता है। देव का एक प्रसिद्ध छन्द है, जिसमें बारात के आकर विदा होने में और उसके बाद की उदासी का चित्र मिलता है–

काम परयौ दुलही अरु दुलह, चाकर यार ते द्वार ही छूटे।
माया के बाजने बाजि गये परभात ही भात खवा उठि बूटे।
आतिसबाजी गई छिन में छूटि देकि अजौ उठिके अँखि फूटे।
'देव' दिखैयनु दाग बने रहे, बाग बने ते बरोठहिं लूटे।

ब्रजभाषा की काव्ययात्रा में एक मूल स्वर अवश्य ही मिलता है वह है तरह-तरह के भेदों और अलगावों को बिसराकर एक सामान्य भाव-भूमि तैयार करना। इसी कारण ब्रजभाषा कविता हिन्दू मुस्लिम सिख ईसाई सभी में व्याप्त हुई।

उत्तर भारत के संगीत में चाहे ध्रुपद धमार, ख्याल, ठुमरी या दादरे में सर्वत्र हिन्दू-मुसलमान सभी प्रकार के गायकों के द्वारा ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा और आज भी जिसे हिन्दुस्तानी संगीत कहा जाता है, उसके ऊपर ब्रजभाषा ही छायी हुई है और आधुनिक हिन्दी की व्यापक सर्वदेशीय भूमिका इसी साहित्यिक ब्रजभाषा के कारण सम्भव हुई।

ब्रजभाषा साहित्य का कोई अलग इतिहास नहीं है, इसका कारण यह है कि हिन्दी और ब्रजभाषा दो सत्ताएँ नहीं हैं अपितु एक-दूसरे की पूरक हैं।

नानक के इस पद में देखिये–ब्रजभाषा व हिन्दी का मिला जुला रूप है–

जो नर दुख नहिं माने।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै।
नहिं निन्दा नहिं अस्तुति जाकें, लोभ मोह अभिमाना।
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविन्द सौ ज्यों पानी सँग पानी।

छत्तीसगढ़ी लोकगीत

इतिहास के पृष्ठों में छत्तीसगढ़ का वैभव, ऐश्वर्य एवं सांस्कृतिक उत्थान का विशद वर्णन मिलता है। छत्तीसगढ़ अंचल में विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों एवं धर्मों के लोग निवास करते आ रहे हैं। यहाँ समय-समय पर जो विभिन्न जातियाँ बाहर से आकर बस गईं, उनमें एक पारिवारिक स्नेह का संबंध निर्मित हो गया। इसी कारण छत्तीसगढ़ों का ही नहीं अपितु छत्तीस जातियों का भी मिलन-स्थान बन गया है। यह अंचल उपज एवं प्राकृतिक संसाधन की दृष्टि से राष्ट्र का महत्वपूर्ण अंग रहा है, किन्तु इसके भाग्य में छल और पक्षपात ही लिखा हुआ है।

छत्तीसगढ़ी जनभाषा आंचलिकता की दृष्टि से एक अत्यंत प्राचीन संस्कृति की उपज है। यह जनभाषा छत्तीसगढ़ अंचल के घरों के विचार-वहन का अधिकांश दायित्व संभाले हुए हैं। इस क्षेत्र की संस्कृति एवं जन जीवन का परिचय प्राप्त किए बिना छत्तीसगढ़ी जनभाषा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान लगभग असंभव है। किसी भी राष्ट्र या प्रदेश की संस्कृति का अभिज्ञान वहाँ के लोक जीवन के माध्यम से होना है और उसको पूरी तरह से जानने एवं समझने के लिए उस अंचल में व्यवहृत लोक साहित्य का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

छत्तीसगढ़ी लोकगीत–इस प्रदेश के जन जीवन के निर्माण में इसके लोक-साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। छत्तीसगढ़ी जनता के वर्तमान जीवन को समझने के लिए भी यह लोक-साहित्य बहुत उपयोगी है। इस अंचल में बिखरा हुआ अपार लोक-साहित्य अभी भी पूर्ण रूप से प्रकाशन के अभाव में कम प्रकाश में आया है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य की तीन प्रमुख धाराएं है–

1. लोकगीत
2. लोकगाथा
3. प्रकीर्ण साहित्य।

अंचल की अभिव्यक्ति को मुखरित करने में अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने नि:संदेह अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है, वे हैं–छत्तीसगढ़ी, मयारु माटी, छत्तीसगढ़ सेवक, छत्तीसगढ़ी-संदेश, लोक मंजरी एवं लोकाक्षर। इन पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन से लोकगीत, लोककथा एवं लोक मानस से संबद्ध अभिव्यक्तियों का अध्ययन और विश्लेषण को नया स्वरूप मिला जिसके कारण छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य और लोक संस्कृति का अध्ययन क्रमश: अपने प्रतिमान स्थापित करता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर हो रहा है। इस संदर्भ में डॉ. (श्रीमती) शकुंतला वर्मा, डॉ. दयाशंकर शुक्ल, डॉ. हनुमंत नायडू, डॉ. भालचंद्र राव तैलंग एवं श्री दानेश्वर शर्मा की कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं।

विश्व का शायद कोई कोना ऐसा मिलेगा जहाँ मानव हों और गीत न हों। लोकगीतों की यह परंपरा मानव-जीवन के आदिकाल से चली आ रही है। समय की छाप उसके भावों एवं विचारों पर पड़ी और वह अपनी जीवन को ईमानदारी से भाषाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति किया, जो किसी न किसी रूप में आज भी प्रवाहमान है। उसने समय-समय पर शोषण के विरुद्ध गीतों के माध्यम से इतना ही नहीं उन्होंने मन के अंदर छिपी हुई मीठी बातों के सुख और दुख को भी गीतों के माध्यम से व्यक्त किया।

मानव-समाज अपने साथ गीतों को संजोए रखता है और उसे संवार पाना उसकी सभ्यता या प्रकृति पर निर्भर करता है। इस अंचल में लोकगीतों की अतुल संपत्ति है, अनंत भंडार है और वह शाश्वत है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित लोकगीतों को उनके स्वरूप के आधार पर संस्कार गीत, पर्व गीत,शृंगार गीत, भक्ति गीत, खेल गीत आदि नामों में वर्गबद्ध किया गया है। शहरी सभ्यता से इतर विभिन्न लोकगीत छत्तीसगढ़ी जनभाषा के विभिन्न बोलियों और क्षेत्रीय रूपों में अपने अलग-अलग स्वरूप को लिए हुए आज भी विद्यमान है। आंचलिक लोकगीतों में क्षेत्रीय संस्कृति की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। ये आंचलिक लोकगीत, सरगुजिया, पंडो, लरिया, बिंझवारी, हलबी, गोंडी, भतरी, मुरिया, दोरली, परजी, गदबा, डंगचगहा, देवार आदि अनेक बोली रूपों में प्रचलित हैं।

छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का वर्गीकरण निम्नानुसार किया जा सकता है–

1. नारी गीत
   (1) संस्कार विषयक गीत
   (अ) जन्म गीत (ब) विवाह गीत
   (2) नृत्य गीत (अ) सुआ गीत
   (3) पर्व गीत
   (अ) भोजली गीत
   (ब) गौरा गीत
   (4) अन्य गीत
   (अ) ददरिया (ब) सोहरगीत (स) लोरी
2. पुरुष गीत
   (1) नृत्य गीत
   (अ) डंडा (ब) करमा (स) मड़ई (द) नाचा (ई) रास
   (2) जातीय गीत
   (अ) बांस (ब) देवार
   (3) धार्मिक गीत
   (अ) जँवारा (ब) भजन
   (4) ऋतु गीत
   (अ) बारहमासा (ब) वर्षा गीत
3. बालक गीत
   (1) बड़ों के खेल गीत
   (2) शिशुओं के खेल गीत
   (3) बालिकाओं के खेल गीत
4. प्रबन्ध गीत
   (1) नारी विषयक गीत
   (अ) अहिमन रानी (ब) रेवारानी (स) कँवला रानी
   (द) फुलबासन (ई) पण्डवानी
   (ए) देवी की गाथा
   (2) पुरुष विषयक गीत
   (अ) वीर सिंह (ब) कल्याह शाह (स) लोरिकी
   (द) सीताराम नायक (इ) भैरोलाल (ई) रसालू
   (ए) सरवन

प्रस्तुत आलेख में समस्त छत्तीसगढ़ी लोकगीतों को सीमाबद्ध करना एक जटिल कार्य है। अतः संक्षेप में छत्तीसगढ़ में प्रचलित लोकगीतों का विवरण निम्नानुसार है -

1. संस्कार गीत–जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न संस्कार किए जाते हैं। हमारे जन्म से लेकर मृत्यु तक कुल सोलह संस्कारों का उल्लेख कर्मकांड के आधार पर मिलता है। इस अंचल के लोक जीवन में दो संस्कारों से संबंद्ध लोकगीत अधिक मात्रा में मिलते हैं। पहला जन्म है और दूसरा है विवाह।

सोहर या जन्म गीत–जन्म संस्कार के गीत को सोहर गीत कहते हैं। इस गीत की प्रचुरता विशेषकर पुत्र जन्म के समय ही रहती है। इन गीतों का विषय प्रायः खुशी, बधाई, आशीष, बंध्या जीवन की अनुभूति आदि रहती है, जैसे-

धिरे-धिरे बांजथे मोर अनंद बधइया
बाजे अनंद बधइया हो
हमरो भाई के होय हवै लाले
हम काजर आँजे ल जाबोन हो।

विवाह गीत–छत्तीसगढ़ में जन्म संस्कार के बाद महत्वपूर्ण है–विवाह संस्कार। विवाह संस्कार का बीजारोपण मंगनी से होता है। इन उत्सवों के अवसर पर आनंद और हर्ष से उन्मत स्त्रियों द्वारा मिलकर गीत गाए जाते हैं। जिस दिन तेल या हल्दी चढनी होती है, उससे आठ दिन पूर्व ग्राम के बाहर स्थित तालाब या किसी विशिष्ट नियत स्थान से स्त्रियाँ मिट्टी लाती हैं और उसका चूल्हा बनाती है। इस अवसर पर दूल्हा या दुल्हन के फूफा या जीजा मिट्टी खोदता है स्त्रियाँ गीत गाती हैं–

तोला माटी कोड़े ल नइ आवै मीत
धीरे-धीरे तोर कनिहा ल ढील धीरे-धीरे
जतके पोरसय ओतके ल लील
तोर बहिनी ल तीर धीरे-धीरे

विवाह के तीसरे दिन बाराती एवं घराती सम्मिलित होकर हरदाही खेलते है–

खेल में गांदा जियत भर ले
चल चोला नइ आवे घेरी-बेरी
खेल ले गोंदा जियत भर ले

गीत गाते हुए हल्दी और रंग लगाते हैं, साथ ही उमंग में नाचते हैं।

2. पर्व गीत–छत्तीसगढ़ में अनेक पर्व एवं उत्सव मनाए जाते हैं। प्रत्येक पर्व में प्राय: कोई न कोई गीत प्रचलित है।

सुआ गीत–सुआ गीत केवल स्त्रियों का नृत्य गीत है। ये गीत तोता अर्थात सुग्गे को संबोधित करके गाए जाते हैं। इन गीतों में स्त्री जाति की आत्मा बोलती है। नारी-जीवन की सुख-दुख की जाने कितनी ही बातें वे कह जाती हैं। इस नृत्य को छत्तीसगढ़ का गरबा कहा जाता है।

1. पंइया परत हौ मैं चंदा सुरुज के
मोला तिरिया जनम झनि देय सुआ रे
तिरिया जनम मोर अति कलपना रे।
मोला तिरिया जनम झानि दे सुआ रे।
2. तरी तरी न हो, नारे सुआ न
न तरी नरी न ह नां
पहिली गवन कर डेहरी बैठारे रे सुवना
तोला छोडि के चलेंव बनजार।

गौरा गीत–दीपावली के अवसर पर गोंड़ जाति की स्त्रियाँ गौरा का विवाहोत्सव मनाती हैं। इन गीतों में ऐतिहासिक या पौराणिक घटना का उल्लेख रहता है। प्रस्तुत गीत में दुर्गा देवी की सेवा में भेट समर्पित है -

एक पतरी रैनी झैनी, राय रतन दुर्गा देवी।
तोरे शीतल छाँव माय, जागौ गौरी जागौ गौरी।

देवी सेवा गीत–सेवा गीत की परंपरा इस अंचल में बहुत पुरानी है। नवरात्रि के समय माँ दुर्गा देवी की आराधना में लोकगीत के माध्यम से माता के यशोगान का वर्णन उल्लेखनीय है–

जयश्री शीतला सुनतेव तुम्हरे
आगमन हो माय।
आपन अजिन लिपाय सुगंधित
गूँगुर कपूर जरातें।
जाय इन्द्रधर कला वृक्ष औं
देवतन नेवत बुलातें।
लाके सुभ पधराय मातु को
जय-जय शब्द बोलातें।

होली गीत–होली के अवसर पर फाग गाया जाता है। ढोल, मांदर, मंजीरे आदि के साथ जन समूह नृत्य करते हैं और फाग गाते हैं–

बजै नगारा दसों जोड़ी, हाँ राधा किशन खेलैं होरी।
दूनो हाथ धरय पिचकारी, रंग गुलाल धर के झोली।

मड़ई गीत–पुरुषों को लोक नृत्य गीतों में मड़ई का महत्वपूर्ण स्थान है। मड़ई लोकगीतों में कोई बहुत अधिक काव्य प्रतिमा अथवा चमत्कार नहीं होता परंतु भावों की सरल, स्वाभाविक और अतिशय अभिव्यक्ति के कारण उनमें हमें इस अंचल के जन-जीवन की झाँकी का चित्र मिल जाता है–

1. पानी संग पवन लड़े, भीत-भीत संग लड़े कपाट।
हाट बाजार तिरिया लड़े, मरद लड़े दरबार॥
2. सब के लौड़ी रींगी-चिंगी मोर लौड़ी कुसुवा।
धर बांध के डौकी लानेंव, उहू ल लेगे मुसुवा॥

3. शृंगार गीत–छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में एक ओरशृंगार और प्रेम की प्रधानता है तो दूसरी ओर सामाजिक तत्त्वों की प्रमुखता भी है–

ददरिया–यह छत्तीसगढ़ का प्रमुख प्रणय गीत है। इसमें सजीवता, रसात्मकता तथा साहित्यिक कल्पना का अद्‌भुत सामंजस्य मिलता है। इन गीतों में यह भावना स्पष्ट होती है कि नारी को सदैव पुरुष की प्रतीक्षा रही है। निष्ठुर प्रेमी दगा देगा यह किसको मालूम था–

1. गयेल पहाड़, देइल टेही,
नइ जानेंव संगी, मोला दगा देही।
2. मारे ल मछरी, धरे ल सेहरा
आंखी-आंखी मं झूल थे, राजा के चेहरा।

बारहमासी गीत–इन गीतों में बारह महीनों की विशेषता का भावात्मक चित्र प्रस्तुत किया जाता है–

सावन महिना बिरहिन रोवै जेकर सैंया गये हे परदेस
अभी कहूं बालम घर म रहितिस
तब सावन के करतेंव सिंगार भादो महिना रडिया रोवै
कुकुर रोवत मं लगै कुंवार।

4. अन्य गीत–छत्तीसगढ़ी लोकगीतों की विशालशृंखला है, जिनमें करमा गीत, बांस गीत, भोजली गीत, डंडा गीत, रासगीत, देवारगीत, जंवारा गीत, भजन बालक, गीत शिशुओं के खेलगीत, बालिकाओं के खेल गीत, फुगड़ी आदि गीतों

का प्रचलन आज भी इस अंचल में निरंतर प्रवाहमान है। छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में वह शक्ति है जो सब तरह से पीड़ित, पददलित जनता की कमर को टूटने नहीं देती। लोकगीतों की आवाज कानों में पड़ते ही लोगों के बुझे हुए चेहरे खिल उठते हैं, आँखों में एक दिव्य आदिम ज्योति छा जाती है और हृदय में गुदगुदी पैदा होती है।

अंत में विस्तार को यहीं विराम देते हुए कहा जा सकता है कि छत्तीसगढ़ ग्रामों का प्रदेश है। प्राकृतिक हरियाली उसे सहज ही प्राप्त हो गई है। लोकगीतों में प्राकृतिक सौंदर्य की झलक दिखाई पड़ती है। संध्या की बेला में ग्राम-समाज का मेल जोल अगीत साहित्य की रक्षा में सहायक सिद्ध हुआ है, किन्तु अब यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे मृतप्राय की ओर अग्रसर हो रही है-

वही है नास्तिक पक्का जो स्वयं को न पहचाने।
दया का पाठ जो पढ़ता नहीं वह धर्म क्या जाने?
बढ़ा ले ज्ञान अपना सीख कर भाषा अनेक मगर वह छत्तीसगढ़ का वासी नहीं, छत्तीसगढ़ी न जो जाने।

धन्य है यह छत्तीसगढ़, जिसने अपने अंचल की समस्त भाषाओं, बोलियों, उपबोलियों एवं क्षेत्रीय रूपों में लोकगीत, लोककथा एवं लोकगाथाओं का निर्माण करके न केवल इस अंचल के विद्वानों, साहित्य-साधकों को अपितु देश एवं प्रदेश के अन्याय विद्वानों, शोधार्थियों एवं विदेश के साहित्यकारों को भी प्रभावित किया है।

महिलाओं की भूमिका

लोक गीत चाहे वह किसी भी देश की हो वहां की अमूल्य निधि होती है। इससे एक जाति, स्थान या समाज ही नहीं अपितु पूरा राष्ट्र गौरवान्वित होता है। लोक गीत शब्द के साथ ही हमारे जेहन में ग्राम्यांचल का दृश्य उभरने लगता है। जीवन के विविध इन्द्रधनुषी छटाओं के साथ ही नृत्य-गीत, अहलाद मनोरंजन, सहकारिता की भावना, प्रेम भाइचारे की भावना का दर्शन हमें गावों में ही होता है। लोक गीत न केवल मनोरंजन का साधन है अपितु इसका सामाजिक महत्व भी है। घर-आंगन, खेत-खलिहान, मंदिर-चौपाल, हाट-बाजार, मेला-मड़ई, बाग-बगीचा ऐसी कौन सी जगह नहीं है जहां मानव गाता न हो। वह गाता है और वह भी समूह के साथ। वैसे भी जहां तक मेरी धारणा है कि ''लोक गीतों की अभिव्यंजना व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामूहिक होती है। इसके साथ ही उनके

आचार-विचार, रहन-सहन एक से होते हैं। यह लोक गीत ही है जो मानव कंठ से निकलकर आत्मिक सुख का अनुभव कराता है। भूले-भटके राही का मार्ग प्रशस्त कर उन्हें कर्तव्य पथ की ओर अग्रसर करता है। वर्तमान के साथ अतीत की मधुर स्मृतियों में गोते लगवाता है। गीतों की स्वर लहरियों के साथ विगत और आगत के मध्य नये-नये गीतों का संधान करने के साथ ही हमें कुछ नया और नया करने के लिये प्रेरित करता है।'' आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, सुख-दुख, संघर्ष आदि की मार्मिक अभिव्यंजना का चित्रण हमें लोक गीतों से ही मिलता है।

विद्वान साहित्यकारों, संगीत मनीषियों आदि ने अपने-अपने अनुभवों के माध्यम से लोक गीतों की उत्पत्ति में अनुमान का सहारा लिया है। लोक गीतों का यदि वर्गीकरण किया जाय तो उसमें शब्द, धुन, लय, टेर, स्वर व रंजकता के गुण पाये जाते हैं। इसकी उत्पत्ति चाहे जिस रूप में भी हुई हो इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि लोक गीत सर्वप्रथम महिलाओं द्वारा ही गाये गये होंगे। क्योंकि माता ने जब गर्भ धारण किया होगा उसके अंदर नये-नये अहसासों ने जन्म लिया होगा। पहली बार शिशु जब गोद में आया होगा तो माता ही उसे सुलाने के लिये लोरियां गाई होगी,रोने पर चुप कराने वाले स्वरों का सहारा लिया होगा तब उसके मुख से जो बोल निकले होंगे उस बोल ने लोरी को जन्म दिया होगा और यही गीत लोरी गीत बनकर सामने आया होगा।

धान का कटोरा कहलाने वाली हमारी पुण्य धरा छत्तीसगढ़ में तो महिलाओं ने एक वैभवशाली परम्परा को कायम किया है। क्षेत्र चाहे शहरी हो या आरण्यक महिलाओं ने सदा ही लोक गीतों को परिमार्जित, परिष्कृत करने में पुरुषों का साथ निभाया है। अन्य प्रान्तों में जैसे पंजाब का गिद्दा, महाराष्ट्र की लावणी, निमाण-मालवा के गणगौर, फूलपाती, असम का बीहू, केरल का ओणम महिलाओं द्वारा सम्पन्न लोक गीत हैं। उसी तरह छत्तीसगढ़ में कुछ गीत केवल महिलाओं द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं जैसे-सुवा नृत्य गीत, विवाह गीत, सोहर, भोजली, धनकुल, ककसार, आदि। रावतनाच, डंडा नाच, बांस गीत, जवारा, पंथी, गेड़ी आदि केवल पुरुषों द्वारा ही सम्पन्न किये जाने वाले नृत्य और गीत हैं, किन्तु वर्तमान समय में पंथी नृत्य में महिलाओं ने पुरुषों के एकाधिकार को तोड़ा है। अतः लोक गीतों में पुष्पित, पल्लवित लय,ताल,सुर देने में पुरुषों के साथ महिलाओं के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है। करमा, ददरिया, सरहुल ऐसे नृत्य-गीत हैं जो श्रम, भक्ति, कर्म और श्रृंगारपरक हैं। गीतों में माधुर्य, सौंदर्य,

सौम्यता का सहजता से प्रयोग महिलाओं द्वारा ही सम्पन्न होता है। उत्सवों में संस्कारित मांगलिक कार्यों में फूल-पत्ते सजाना, कलश सजाना, अल्पना बनाना,साज-शृंगार आदि कार्यों को विधि -विधान से सम्पन्न कराने में महिलाओं का योगदान अमूल्य है।

छत्तीसगढ़ में कुछ गीत जातिगत होते हैं जैसे सुवा गीत। सुवा गोंड़ जनजाति का प्रमुख उत्सव नृत्य-गीत है। सुवा गीत कार्तिक कृष्ण पक्ष से शुरू हो कर दीपावली के दिन तक गाया जाता है, जिसमें नारियां बांस की टोकनी में धान रखकर उसके बीच में दो तोता रखती हैं जिसे शिव-पार्वती का प्रतीक मानती हैं। ये समूह में जिसमें आठ-दस होती हैं, टोकनी को बीच में रखकर उसके इर्द-गिर्द गोल घेरा बनाकर गोल घूमते हुए गीत गाती जाती हैं और साथ में लयबद्ध ताली भी बजाती जाती हैं। इस वक्त उनके पैर जमीन पर ठुमकने की शैली में होते हैं और उनका यह ठुमकना तोते की चाल की तरह होता है। गीतों के माध्यम से उनका यह मानना है कि तोता उनका यह संदेश जरूर परदेश गये प्रियतम तक पहुंचा देगा। पुराने समय में कबूतर के माध्यम से राजा-महाराजाओं के द्वारा खतों का, संदेशों का आदान-प्रदान किया जाता था यह हम जानते हैं। शायद उसी कड़ी में ही इस सुवा गीत को भी हम ले सकते हैं। सुवा गीत विशेषत: दूर परदेस गये अपने प्रिय को संदेशे के रूप में उसकी करूणा की अभिव्यक्ति का माध्यम होता है। नारी उसके आने की बाट जोह रही होती है या मायके गई हुई स्त्री को जब उसके ससुर, जेठ, देवर लिवाने जाते हैं तब उसके मन के उद्‌गार कुछ इस तरह होते हैं कि–

तरी हरी नहा ना मोर नहा नारी नाना रे सुवना कि
लाल भाजी जमे झकझोर
ओही लाल भाजी खावन नहीं पाएवं रे सुवना कि
आई गईस ससुर मोर लेवाय
नारे सुवना कि आई गईस ससुर मोर लेवाय
ससुरे के संग-संग मैं नहीं जावौं रे सुवना
कि घेरी-बेरी पईयां ला पड़ाय
नारे सुवना कि घेरी-बेरी पईयां ला पड़ाय॥

इसी तरह गीतों की रानी ददरिया भी बिना नारी स्वर के अधूरा है और फिर जहां नारी स्वर हो वहां प्रेम-अनुराग, सौंदर्य, लालित्य, ठिठोली, के साथ ही होती है। पसीनों के बूंदों की महक। स्त्री-पुरुष दोनों ही एक दूसरे का साथ निभाते

हुए गीतों की लड़ियां बांधते हैं। इस वक्त जो गीत गाया जाता है उसे ददरिया कहते हैं। ददरिया में शृंगार की बहुलता के साथ ही साथ सुख-दुख, सौहार्द्र, उमंग, हंसी-ठिठोली, मौज-मस्ती से विभोर हार्दिक आत्मीयता का समावेश रहता है। कहते हैं कि नारी बिना ददरिया श्री विहीन है। चूंकि, ददरिया श्रम प्रधान गीत है अत: यह खेतों-खलिहानों, बाग-बगीचों, जंगल-झाड़ी, कुआं-तालाबों में कहीं भी जहां श्रम हो, गाया जाता है। कभी उलाहना के स्वर में, तो कभी प्रेम-अनुराग से, तो कहींशृंगारपरक जैसे–

बागे बगीचा दिखे ल हरियर
मोटर वाला नई दिखे बंधे हों नरियर। ।
आमा ला टोरेवं खाहूंच कहिके
मोला दगा दिये राजा आहूंच कहिके॥

नारी प्रधान गीतों में ही हम भोजली को प्रकृति पूजा का प्रतीक मानते हैं। गेहूं, जौ, उड़द आदि अनाज को छोटी-छोटी टोकनी में खाद डालकर श्रावण शुक्ल की नवमी के दिन उगाया जाता है। भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा को उस उगाये हुए अन्न को जिसे हम भोजली के रूप में रूपायित करते हैं, समूह में चलकर तालाबों में उसका विसर्जन किया जाता है। जहां मां गंगा की स्तुति की जाती है ताकि उनकी कृपा से भोजली की तरह यह जीवन भी हरा-भरा बना रहे। उसी भोजली के कुछ गुच्छों को लेकर लड़कियां, स्त्रियां एक दूसरे से आदानप्रदान कर प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करती हैं जिसे भोजली बदना कहते हैं। यह होता है मित्रता का प्रतीक, आजीवन सम्बन्ध कायम रखने का प्रतीक। जब भोजली का विसर्जन किया जाता है तब मां गंगा की स्तुति में यह लोक गीत गाया जाता है–

अहो देबी गंगा
देबी गंगा देबी गंगा लहर तुरंगा
हो लहर तुरंगा
हमर भोजली दाई के भीजे आठो अंगा
अहो देबी गंगा
आई गईस पूरा बोहाई गईस कचरा
बोहाई गईस कचरा
हमर भोजली दाई के सोने सोन के अंचरा
अहो देबी गंगा॥

फुगड़ी बालिकाओं द्वारा गाया जाने वाला खेल गीत है। धनकुल, ककसार छत्तीसगढ़ के बस्तर संभाग में गाया जाता है। इसके अलावा देश के अन्य प्रान्तों की तरह यहां भी बच्चे के जन्म संस्कार से लेकर विवाह के समस्त गीत जिनमें मंडपाच्छादन से लेकर चूलमाटी, मंगरोहन, देवतेल, तेलचघी, नहडोरी, मौर सौंपनी, बारात प्रस्थान, बारात स्वागत, समधी भेंट, भड़ौनी, भांवर, टिकावन, विदाई, डोला परछन आदि के गीत महिलाओं द्वारा ही गाये जाते हैं।

हमारे छत्तीसगढ़ के लिये यह गर्व का विषय है कि यहां की महिलाएं घूंघट प्रथा, पर्दा प्रथा जैसी रूढियों से हटकर अपनी अस्मिता को बनाये हुए पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करती हैं। खेत-खलिहानों में कार्य करते वक्त जब श्रम की थकान होती है तो उस थकान को मिटाने के लिये गीतों का सहारा लिया जाता है। युग चाहे जितना परिवर्तन करले रहन-सहन, खान-पान, पहनावे में जिस तरह से बदलाव आये किन्तु हमारी आंचलिक धरोहर लोक गीत की पहचान को संजोए रखने में पहले भी महिलाओं की सहभागिता रही है और हमेशा से ही रहेगी। ग्रामीण श्रमिक, खेतिहर महिलाओं के साथ ही हमारी लोक कलाकार जिनमें पंडवानी गायिका पद्मश्री तीजन बाई, ऋतु वर्मा, उषा बारले, मीना साहू, ममता बारले, सुप्रसिद्ध भरथरी गायिका सुरूज बाई खाण्डे, रेखा जलक्षत्री, ममता चंद्राकर आदि के नाम हम गर्व से ले सकते हैं जिन्होंने छत्तीसगढ़ की लोक परम्परा को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण पहचान दी है।

अतः कुछ पुरुष प्रधान गीतों को छोड़कर छत्तीसगढ़ के लोक गीतों में महिलाओं ने आदि काल से ही सहभागी बनकर बराबर पुरुषों का साथ दिया है। बौद्धिक सृजन की उठापटक से दूर निश्छल वातावरण में मन के उद्गारों के माध्यम से लोक गीत रूपी निधि से स्वयं उपकृत होकर पुरुष प्रधान समाज को भी उपकृत किया है और समाज को एक नई दिशा प्रदान की है। छत्तीसगढ़ राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर कला के माध्यम से महिला लोक कलाकारों को विषेष प्रोत्साहन देकर देश-विदेश में उन्हें मंच उपलब्ध कराया जा रहा है जिससे उनकी प्रतिभा में और निखार आ सके साथ ही छत्तीसगढ़ की वाचिक धरोहर लोक गीतों के संरक्षण संवर्धन में वे सहभागी बनें।

मैथिली लोकगीत

मैथिली लोकगीत बिहार प्रांत के मधुबनी, दरभंगा, पूर्वी मुंगेर, भागलपुर, पश्चिमी पूर्णिया और मुजफ्फरपुर के पूर्वी भाग के ग्रामीणों द्वारा गाए जाते हैं।

सोहर, जनेऊ के गीत, संमरि लग्न, गीत, नचारी, समदाउनि, झूमर तिरहुति, बरगमनी, फाग, चैतावर, मलार, मधु श्रावणी, छठ के गीत, स्यामाचकेवा, जट जटिन और बारहमासा यहाँ के मुख्य लोकगीत हैं। सोहर, जनेऊ, फाग, चैतावर आदि का परिचय दिया जा चुका है। नचारी' गीत प्रायः शिवचरित्र से भरा रहता है। जैसे –उमाकर बर बाउरि छवि घटा, गला माल बघ छाल बसन तन बूढ़ बयल लटपटा'। विद्यापति रचित नचारियाँ खूब गाई जाती हैं। समदाउनि' प्रमुख बिदा गीत है। जब लड़की ससुराल जाने लगती है तो यह गाया जाता है जो अत्यधिक करुण होता है। सीता के देश में इस गीत से यही करुणा उत्पन्न होती है जो कभी जनक के घर से उमड़ी थी, यथा, बड़ रे जतन हम सिया जी के पोसलों से हो रघुबंसी ने जाय आहे सखिया'। इस गीत की बहुत सी धुनें होती हैं। झूमर' गीत मुख्य रूप सेशृंगारिक होता है और धुनों के अनुसार कई प्रकार से गाया जाता है। मैथिली क्षेत्र के झूमरों की खास विशेषता है कि उनमें अधिकांश संदेशसूचक होते हैं। हिंडोला के झूमर बहुत सरस होते हैं, जैसे छोटका देवर रामा बड़ा रे रंगिलवा, रेसम के डोरियवा देवरा बान्हथि हिंडोरवा'। कुछ में स्त्री पुरुष के प्रश्नोत्तर होते हैं। तिरहुति' गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में गाया जाता है। पहले यह गीत छह पदों का होता था, फिर आठ का हुआ और अब तो काफी लंबा होने लगा है। उसे साहित्य में तथा लोकजीवन में मान्यता भी मिल गई है। इसमें प्रायः विरह भावनाएँ होती हैं–

मोंहि तेजि पिय मोरा गेलाह विदेस। साहब राम, नंदलाल, भानुनाथ, रमापति, धनवति, कृष्ण, बुद्धिलाल, चंद्रनाथ, हर्षनाथ एवं बबुज ने प्राचीन लोककवियों के तिरुहुति खूब गाए हैं। हर्ष की बात है कि तिरुहुति के प्राचीन रचनाकारों का नाम भी गीतों के साथ ही जा रहा है जबकि अन्य गीतों के साथ यह बात नहीं है। बटगमनी (पथ पर गमन करनेवाली) मुख्य रूप से राह का गीत है। मेले ठेले में जाती ग्राम्याएँ, नदी किनारे से लौटती हुई पनिहारिनें प्रायः बटगमनी गाया करती हैं। इस गीत का एक नाम सजनी भी है। इसमें संयोग और वियोग दोनों भावनाएँ होती हैं। गीत की पंक्ति है –जखन गगन धन बरसल सजनि गे सुनि हहरत जिव मोर'। पावस ऋतु में स्त्रियाँ बिना बाजे के और पुरुष बाजे के साथ मलार गाते हैं। जैसे –कारि कारि बदरा उमड़ि गगन माझे लहरि बहे पुरवइया। मधुश्रावणी गीत इसी नाम के त्योहार के समय गाया जाता है जो श्रावण शुक्ल तृतीया को पड़ता है। मधुश्रावणी नवविवाहितों का भविष्यबोधक है। इस पर्व पर एक भयंकर विधि इसलिए की जाती है कि विवाहिता अधिक दिनों तक

सधवा रहेगी या नहीं। उसे दीपक से जला दिया जाता है। यदि छाला खूब उभरता है तो शुभ है। छठ के गीत –सूर्यषष्ठी व्रत (कार्तिक शुक्ल षष्ठी) के उपलक्ष्य में गाए जाते हैं। कहीं कहीं चैत्र शुक्ल षष्ठी को भी यह व्रत पड़ता है। छठ के गीत पूर्णत: धार्मिक गीत हैं और सौभाग्य तथा पतिप्रेम के दायक है। स्त्रियाँ गाती हैं –नदिया के तीरे तीरे बोअले में राइ। छठी माई के मृगा चरिय चरि जाइ।' स्यामा चकेवा एक खेल गीत है जो कार्तिक शुक्ल सप्तमी से कार्तिक पूर्णिमा तक खेल में गाया जाता है। स्यामा बहन और चकेवा भाई के अतिरिक्त इस खेल के चंगुला, सतभइया, खंडरित्र, झाँझी बनतीतर कुत्ता और वृंदावन नामक छह और पात्र हैं। खेल भाई बहन के विशुद्ध प्रेम का पोषक है। बहनें गाती हैं –किनकर हरिअर हरिअर दिभवा गे सजनी। जट जटिन एक अभिनय गीत है। जट (पुरुष पात्र) एक तरफ और जटिन (स्त्री पात्र) दूसरी ओर सज-धजकर खड़ी होती हैं। दोनों ओर प्रधान पात्रों के पीछे पंक्तिबद्ध स्त्रियाँ खड़ी हो जाती हैं। इसके बाद जट जटिन का सवाल जवाब गीतों के माध्यम से आरंभ हो जाता है। ये गीत शरद निशा में गाए जाते हैं।

कुमाऊँनी लोकगीत

कुमाऊँनी लोकगीत मध्य हिमालय के नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल, टेहरी, पिथौरागढ़, चमौली और उत्तर काशी में रहनेवाली पर्वतीय जातियों के गीत हैं। इन गीतों को दो भागों में बाँटा जा सकता हैं संस्कार के गीत, जो नारियों द्वारा पुत्रजन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत एवं विवाह के समय गाए जाते हैं, तथा मेलों, त्योहारों और ऋतुओं के गीत। इस क्षेत्र के प्राय: सभी संस्कार शंकुनाखरगीत से आरंभ होते हैं। इनमें गणेश, ब्रह्मा, राम तथा अन्य देवताओं से कार्यसिद्धि की प्रार्थना की जाती है। गीतों में मनुष्य, पशु, पक्षी संदेशवाहक का कार्य करते दिखाई पड़ते हैं, जो देवी देवताओं के अतिरिक्त दूरस्थ संबंधियों का भी संदेश ले जाते हैं। बिदाई के गीत अन्य स्थानों की तरह ही मार्मिक होते हैं।

दूसरे प्रकार के गीतों में झोड़ा, चाँचरी भगनौल और बैर प्रमुख हैं। इन गीतों में सामाजिक जीवन एवं समस्याओं की विशेष चर्चा रहती है। ये विभिन्न मेलों एवं उत्सवों के अवसर पर गाए जाते हैं। इन्हें कई गायक अथवा गायिकाएँ मिलकर गाती हैं। ऋतुगीतों को यहाँ ऋतुरेण' कहते हैं। ये गीत चैत मास में गाए जाते हैं। ऋतुरेण में मंगलसूचक एवं प्राकृतिक सौंदर्य की बहुलता होती है। ग्रामगायक औजी', जिन्हें ढ़ोली भी कहते हैं, एक गीतबद्ध कथा सुनाते हैं, जो

भाई-बहन के विशुद्ध स्नेह पर आधारित हैं। हंडुकिया बोल' यहाँ के किसानों का गीत है। यह गीत धान की रोपाई के अवसर पर नर नारियों द्वारा गाया जाता है। इनमें स्थानीय नायकों (राणरौत रामीबौर हिसहित आदि) की गाथाएँ बद्ध होती हैं। प्रेम के फुटकर गीत भी खूब चलते हैं। बरुँश नामक लाल फूल प्रेमी का प्रतीक माना जाता है। अत: कई गीतों में इसका नाम आता है, जैसे, पारा डाना बुरुंशी फुलै छ, में जे कौनूं मेरि हिरु ए रे छ।' नैनीताल से लेकर काठगोदाम तक के बीच के पर्वतीय क्षेत्र में एक अलिखित लोक महाकाव्य प्रचलित है जिसका नाम है मालूसाही। कुमाऊँनी लोकसाहित्य में इसके टक्कर की कोई रचना है ही नहीं। धर्मगाथाओं के अंतर्गत जागर' (जागरण) गीत अधिक प्रचलित हैं। उत्तर काशी, पिथौरागढ़ एवं चमौली में प्रचलित पांडव नृत्य के समय जागर गीत गाए जाते हैं। इसमें महाभारत के विभिन्न आख्यान गीतबद्ध होते हैं। यह गीत क्रमश: द्रुततर होता जाता है। इसके अंतर्गत किसी एक व्यक्ति पर देवात्मा की अवतारणा की जाती है। जब वह आत्मा उसके ऊपर अवतरित होती है, वह उठकर नाचनेगाने लगता है। भोलानाथ, एड़ी, ग्वाला आदि ग्रामदेवताओं के जागर' के अतिरिक्त नंदादेवी का वैसी जागर' इतना लंबा होता है कि व 22 दिनों में समाप्त होता है। घोड़ी नृत्य' गीत भी चलता है। इसमें बाँस पर ओहार' (पर्दा) डालकर घोड़ी बनाई जाती है जिसके बीच में नर्तक इस तरह खड़ा होकर घोड़ी को कमर से पकड़ता है कि वह सवार जैसा मालूम होता है। नर्तकों का जोड़ा तलवार भाँजता है, गायक गीत गाते हैं। भड़ौ' नामक गीत प्राचीन जातीय वीरों, जिनमें दिगोली भाना, काले कहेड़ी, नागी भागी भल, सुपिया रौत और अजुआ बफौल आदि के वृत्तांत होते हैं, वीरगाथाओं के रूप में गाया जाता है।

बुंदेलखंडी लोकगीत

जो लोकगीत उत्तर प्रदेश के झाँसी, जालौन, बाँदा और हमीरपुर जिले में, ग्वालियर के विस्तृत क्षेत्र में और मध्यप्रदेश के उत्तरी भाग में सागर, जबलपुर, छतरपुर, पन्ना, मंडला, होशंगाबाद और भोपाल के आस पास गाए जाते हैं उन्हें बुंदेलखंडी लोकगीत की संज्ञा दी जाती है। फाग, विवाह, सोहर, देवीगीत जैसे व्यापक क्षेत्रवाले गीत यहाँ भी गाए जाते हैं। चूँकि आल्हा, ऊदल, छत्रसाल, हरदौल एवं झाँसी की रानी का यह क्षेत्र रहा है, अत: इन लोकनायकों की लंबी लंबी वीरगाथाएँ भी लोकगायकों द्वारा गाई जाती हैं। ब्रजभाषा के करीब होने के कारण सूर के अनेक पद यहाँ लोकगीत बन गए हैं और इसी तरह दूसरे गीत भी

चलते हैं। बारात लौटने पर वरवधू के स्वागत में जो गीत गाए जाते हैं उन्हें कहीं कहीं सगुन चिरैया' भी कहते हैं। एक गीत है ब्याह ल्याए रघुवर जानकी जू को'। इसुरी नामक जनकवि द्वारा रचित फाग खूब प्रचलित हैं। यही एक ऐसा क्षेत्र है जिसने लोकगीत (बुझौवल) के माध्यम से अपनी सीमा निर्धारित की है–

भैंस बँधी है ओरछा, पड़ा हुशंगाबाद।
लगवैया है सागरे चपिया (दूध दुहने का पात्र) रेवा पार॥

बैसवाड़ी और बुंदेलखंडी लोकगीतों में काफी साम्य दिखाई पड़ता है।

अवधी और भोजपुरी के लोकगीत

अवधी और भोजपुरी के लोकगीतों को एक साथ लिखने का कारण यह है कि दोनों बोलियों में भाषा का अंतर तो अवश्य है, किंतु रीति रिवाजों, परंपराओं, धर्म, जातियों एवं संस्कृति में अंतर नहीं है जिसके आधार पर लोकगीतों के प्रकार बदला करते हैं। जहाँ ये दोनों बोलियाँ मिलती हैं वहाँ से लेकर दोनों छोर तक बोलियों का भारी अंतर हो जाता है। पर गीतों के प्रकार में काफी साम्य है। संस्कार के गीतों में सोहर, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ, विवाह एवं गौना (बहू विदाई) के गीत दोनों क्षेत्रों में गाए जाते हैं। जातीय गीतों में एक गीत बिरहा है जिसे अहीर जाति के लोग गाते हैं। कुछ बिरहे लंबे होते हैं और कुछ दो दो, चार चार पंक्तियों के छोटे बिरहे होते हैं। ऐसे बिरहों को' पितमा' कहते हैं। लंबे बिरहों में वीर अथवाश्रृंगार रस की प्रधानता होती है। पौराणिक आख्यानों, वीर चरित्रों पर भी बिरहे होते हैं। डोली ढोते समय कहारों के कँहरवा गीत श्रमगीत का काम करते हैं और विवाह शादी तथा कुछ उत्सवों में नृत्य के साथ कहरवा गाया जाता है। धोबियों के गीत बिरहे से मिलते जुलते हैं। ये लोग भी नाच के साथ गीत गाते हैं। चमारों का अपना गीत चनैनी भी एक तरह से नृत्यगीत ही होता है। नौवा झक्कड़' नाइयों के गीत को कहते हैं। मल्लाह लोग विवाह शादियों के मलहिया' गीत गाते हैं। यह गीत तब और रंग लाता है जब पूजन के लिए बाँस रगड़ते रगड़ते उसमें से आग निकलने लगती है। गंगा गीत' भी इन्हीं द्वारा गाया जाता है। जब मल्लाह नई नाव बनवाता है तो उसके जलावतरण के समय नदी तथा नाव दोनों की पूजा भिक्षाटन से अर्जित धन से की जाती है। इसमें यह भावना छिपी रहती है कि यदि भिक्षा देनेवालों में एक भी धर्मात्मा होगा तो नैया दुर्घटनाग्रस्त नहीं होगी। भीख माँगते और पूजा करते समय ये गीत गाए जाते हैं। गीत की हर पंक्ति

के अंत में गंगा जी का नाम आता है। तेली जाति के लोग रात में घानी चलाते समय कथात्मक गीत बंजरवा' या नयकवा' गाया करते हैं। धार्मिक गीतों में देवीगीत, दोनों क्षेत्रों में चलते हैं। मेला गीत मेला अथवा तीर्थयात्रा को जाते समय स्त्रियों द्वारा राह में गाए जाते हैं। श्रमगीतों में जँतसार, जाँत पीसते समय गाया जाता हैं। ये गीत काफी लंबे एवं प्राय: करुणरस से ओतप्रोत होते हैं। अब तो गाँवों में भी आटा पीसनेवाली मशीनें पहुँच गई हैं, इसलिए इन गीतों का उठान होता जा रहा है। धनरोपनी के गीत धान रोपते समय ग्राम्याओं द्वारा गाए जाते हैं। निरवाही के गीत' खेत की निराई करते समय गाए जाते हैं।

ऋतुगीतों में तीन प्रकार के गीत आते हैं –होली, चैती और कजली। होली की चर्चा ऊपर की गई है। चैती चैत में गाई जाती हैं। चैती गीतों की ऊपर तथा टेक की पंक्तियों में हो रामा' शब्द आता है। होली और चैती पुरुषों के गीत हैं। अब से लगभग 20 वर्ष पूर्व एक प्रकार का गीत स्त्रियों द्वारा फागुन में ही गाया जाता था जिसका नाम था मनोरा झूमक'। अब यह गीत सुनने को नहीं मिलता। गीत की एक पंक्ति हैं –फागुन जाड़ गुलाबी मनोरा झूमक हो'। पद्मावत में भी आया है –चहइ मनोरा झूमक होई, फर अउ फूल लिहे सब कोई।

4

लोककथा

एक लोक कथा पारंपरिक सांस्कृतिक अर्थ और पारंपरिक रूप से संरक्षित की गई एक कहानी है। लोकगाथाओं की तरह, लोककथाओं को भी समूह आधारित, समेकित किया जाता है। यह पारंपरिक अभी तक परिवर्तनशील और प्रवाहमान है। मौखिक परंपरा से, यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रसारित होता है, इस प्रकार इसे पीढ़ियों के लिए संरक्षित किया जाता है। कई लोक कथाएँ एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे में, साथ ही साथ एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में जाती हैं, और उनकी यात्रा अलग-अलग होती है। वे भौगोलिक क्षेत्र, सांस्कृतिक विशेषताओं की अंतर्निहित प्रकृति के अनुसार कहानी के विभिन्न रूपों को लेते हैं। हालांकि लोक कथाएं मूल मौखिक परंपरा से आती हैं, लेकिन उन्हें समय के साथ लिखित रूप में लिखा जा सकता है। लोककथाओं में मिथक के तत्त्व हैं, और यह कभी-कभी गैर-पौराणिक हो सकता है।

शुरुआती कुछ मूल सिद्धांतों और रचनात्मक रूपांकनों को कई लोककथाओं के माध्यम से दोहराया जाता है। लोककथाओं की उत्पत्ति अनिश्चित है और यह कहीं भी, कभी भी हो सकती है, उनमें एक तरह की विश्व स्तरीय घटना है। कथक और दर्शकों के बीच एक सार्वकालिक संबंध देखा जाता है। कुछ कहानियाँ सरल कहानियाँ कहती हैं, तो कुछ सबसे जटिल! लेकिन कथक की मौखिक परंपरा और दर्शकों को मौखिक परंपरा के माध्यम से हमेशा के लिए संरक्षित किया गया लगता है। दादी मां की कहानी इस परंपरा के आविष्कारों में

से एक है। पारंपरिक कहानी कहने वाले भी उसी कहानी के श्रोताओं में बंट जाते हैं। लोककथाएँ एक कहानी से दूसरी कहानी तक, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाती हैं। लोककथाओं के विस्तार को सांस्कृतिक परिदृश्यों द्वारा नियंत्रित किया जाता है जो एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र की तुलना में व्यापक हैं।

जैसे कि लोकगीतों की प्रकृति अपने भाषाई घाटे के बजाय कहानी के मूल आधार और रचना के माध्यम से साबित होती है, ऐसी कहानियाँ एक भाषा से दूसरी भाषा में आसानी से प्रसारित हो जाती हैं। समय के साथ राजनीतिक आक्रमण, व्यापार, क्षेत्रीय विस्तार, सांस्कृतिक, पारगमन के कारण लोगों के बीच अंतर बढ़ता है, लोक कथाएँ अपनी क्षेत्रीय सीमाओं के पार दूसरे क्षेत्र में आसानी से चली जाती हैं।

अठारहवीं शताब्दी में, 'बच्चों और घरेलू कहानियों' को संकलित करके लोकगीतों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव आधुनिक समय में रखी गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में, मैक्स मूलर ने भाषा विज्ञान का अध्ययन करते हुए, टॉलकिन मिथकों और मिथकों के अध्ययन की ओर इशारा किया। यह इस समय के दौरान था कि संस्कृत पंचतंत्र के अनुवादक, बेनफाये ने भारतीय पौराणिक कथाओं पर विशेष ध्यान दिया और तर्क दिया कि 'भारत विश्व कथा की गंगोत्री है।' बाद में, कई शोधकर्ता सहमत हुए।

भारतीय कहानियों की परंपरा बहुत प्राचीन है। कई कहानियों के बीज वैदिक ग्रंथों में पाए जाते हैं, और बाद की पुराणवमीओं में पुरुरवा-उर्वशी कहानी जैसी कई कहानियां उनसे विकसित हुई हैं। वररोची ने पहले प्रकृति में लोककथाओं का एक विशाल संग्रह बनाने की कोशिश की और फिर उन्हें प्रकृति से गुणा किया। अखिल भारतीय रूपों के इस संग्रह को ग्रेट के नाम से जाना जाता है।

महाराष्ट्र में सदाशिव काशीनाथ छत्रे, राजाराम शास्त्री भागवत, कृष्ण शास्त्री चिपुलकर और विष्णुश्री चिपलूनकर, महादेव मोरेश्वर कुंटे, आमेट। जैक्सन, वासुदेव गोविंद आप्टे आदि। लोक साहित्य के संबंध में विद्वानों ने बहुत काम किया है। शुद्धि और भाषाई शिक्षा के उद्देश्य से गीतों, कहानियों, किस्सों, कहानियों और कहानियों का एक संग्रह जारी किया गया था। साका छत्रे और बालमित्र (1), मूल फ्रेंच उपन्यास का अंग्रेजी अनुवाद, जो कि बर्किन के बाल मित्र के अंग्रेजी रूपांतर की मदद से किया गया था, और ईसप नितिकथा (1) का यह अनुवाद, मराठी लोकगीतों के भंडार में जोड़ता है।

कृष्णशास्त्री चिपलूनकर ने विष्णुवादियों (1949) की मदद से मराठी भाषा में मराठी बालवाड़ी को समृद्ध किया और अंहव आप्टे ने मराठी बाल कहानी के क्षेत्र में भी बहुत अच्छा काम किया। आमतौर पर, 1929 से 1959 तक की अवधि को मराठी लोककथाओं के अध्ययन के समय के रूप में माना जाता है। इस दौरान, ए.वी. राजवाडिया ने पहले पारंपरिक कहानियों के लिए 'लोकगीत' और पारंपरिक गीतों के लिए 'लोकगीतों' का इस्तेमाल किया।

मैक्स मूलर के अनुसार, मिथक भाषा की बीमारी है, मनोवैज्ञानिक कार्ल युंग के अनुसार, वे समूह के सपने हैं। लोक कला का उपयोग अब लोकगीतों को बनाने, संग्रहीत करने और संरक्षित करने के लिए किया जा रहा है।

लोककथाओं के निर्माण के संबंध में विभिन्न मत प्रचलित हैं–प्रकृतिवादी कहानियां इस अर्थ से पैदा होती हैं कि मानव अस्तित्त्व की शुरुआत में अनुभव करता है। बाद में, जैसे-जैसे सृष्टि का ज्ञान और समझ बढ़ती गई और ईश्वर 'की अवधारणा का जन्म हुआ, प्राथमिक रचना कहानियों में देवी-देवताओं की पौराणिक गाथाओं और पौराणिक कथाओं को जोड़ा गया और जिनसे मिथकों या किंवदंतियों का जन्म हुआ। यह निस्संदेह इन सभी मिथकों का जन्मस्थान है। बाद में, अनुष्ठानों के लिए कानूनी कहानियों का जन्म हुआ। ये सभी कहानियां अक्सर अनुष्ठानों की व्याख्या हैं। इससे नैतिकता और लोगों का दृष्टान्त सामने आया।

लोकगीत अक्सर भौगोलिक रूप से दूर के क्षेत्रों में कहानियों के समान क्यों होते हैं? इस प्रश्न की जांच करते हुए, यह अनुमान लगाया गया था कि ये कहानियाँ भटकती जनजातियों और व्यापारियों के साथ मूल स्थान से बहुत दूर फैली हुई थीं। देश के दौरान, इन कहानियों को हजारों वर्षों से मौखिक परंपरा के माध्यम से पीढ़ी से पीढ़ी तक तोड़ा, बदला और बदला गया है। उन कहानियों को उस समुदाय के साथ एकीकृत, विस्तारित और परिवर्तित किया गया है। कुछ लोक कथाएँ समय-समय पर वाक्यात्मक रूपों से लाभान्वित होती हैं। 'सागा' मौखिक गद्य कथाओं का एक विकसित स्कैंडिनेवियाई संस्करण है। मध्ययुगीन रेनार्ड फॉक्स जैसे मिथकों को आवधिक मूल्य प्राप्त हुआ है।

भारत में, यत, मगध, चरण, भट, नट, और नटन ने पारंपरिक रूप से कई गीतों की रचना, संरक्षण और प्रसार किया है। महान लोककथाएँ, पंचतंत्र, कथारतसागर, नीतिवचन, वेतालपंचविशी, शुकबतहरी, जतकथा, जैन चुन्नी सभी लोक कथाएँ हैं और मूल रूप से भाषा में हैं। मौखिक परंपराओं को प्रसारित करने के एक चरण में, उन्हें संस्कृत में रूपांतरित किया गया। संस्कृत में, ऋग्वेद दुनिया

में सबसे लोकप्रिय में से एक है। इसकी डिजाइन सहज और मौखिक परंपरा द्वारा संरक्षित है। यह किसी एक व्यक्ति की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि लोककथाओं की विशेषताएं भी हैं, यानी समूह निर्माण, सामूहिक संरक्षण और समूह स्वीकृति।

भारतीय लोककथाओं को संकलित करने के लिए कुछ व्यवस्थित प्रयास किए गए हैं। मैरी फ्रीर के लेखक ने ओल्ड डेक्कन डेज नामक लोककथाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया। इंडियन फेयरी टेल्स मिस स्टोक्स द्वारा अयोध्या राज्य की लोक कथाओं का संग्रह है। सर रिचर्ड टेम्पल ने सबसे पहले लोकगीत संग्रह की व्यवस्थित जाँच की और विज्ञान को वर्गीकृत करने के व्यवस्थित प्रयास किए। पंजाब के महापुरूष अपने संग्रह के लिए प्रसिद्ध हैं। स्विनर्टन की 'किंग रसूल की कहानी' और फ्लोरा ऐनी स्टील की द वाइड अवेक स्टोरीज उस समय के कुछ अन्य संग्रह थे। भारतीय पुरातन पत्रिका ने लोककथाओं के अध्ययन को प्रेरित किया। मराठी की लोक कथाओं को संरचनात्मक रूप से मुख्यत: गद्य और पद्य के दो समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। परंपरागत रूप से छंदबद्ध ताल बहुतायत से होते हैं, और कुछ कहानियाँ गद्य-पद्य के साथ मिश्रित (यानी लयबद्ध) होती हैं।

लोक कथाओं को दो समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। धार्मिक पौराणिक कथाएँ और गैर-धार्मिक पौराणिक कथाएँ। सभी मिथक कट्टर हैं, और उन शुरुआती रचनाकार उत्पत्ति के कारण, उन्हें 'परियों की कहानियों' के रूप में जाना जाता है, तो, देवत्व की अवधारणा के अनुसार, उन्हें दिव्यता के वर्णन के कारण 'दिव्य कथा' भी कहा जाता है। इसके अलावा, यह धार्मिक कथाओं, कहानियों, भागथानची गीतों, तीर्थों के बारे में व्युत्पत्ति संबंधी कहानियों, व्याख्यात्मक कहानियों के साथ भी आता है। अन्य गैर-काल्पनिक कहानियों में किंवदंतियों, किंवदंतियों, स्थलाकृतिक कहानियां, परियों की कहानियां, किस्से, व्यंग्य कहानियां, हास्य, नैतिकता, मिथक, रूपक, रूपक, कामुक कहानियां, वीर कथाएं शामिल हैं। जर्मन शब्द 'मार्थेन' का इस्तेमाल आमतौर पर अजीब लोककथाओं या परियों की कहानियों के लिए किया जाता है।

इसका एक अच्छा उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में द ब्रदर्स ग्रिम और विल्हेम ग्रिम द्वारा परियों की कहानियों का संग्रह है, जिसका शीर्षक द किंडर-अन्ड हौसमार्चिन है। मार्शीन की कहानियों में 'द ड्रैगन स्लेयर', 'द डांसिंग-आउट शूज', 'द स्वान मेडेन', 'कामदेव और मानस', 'स्नो व्हाइट', सिंड्रेला, 'हैंसेल और ग्रेटेल' शामिल हैं।। पेंच के दृष्टांत वर्तमान स्वरूप के समान

हैं। वे दुनिया भर में हैं। उनके बारे में आत्मकथाएँ हैं। उनके माध्यम से, नए संस्करण –कहानियां सामने आई हैं। परियों की कहानियों में, जानवर कभी-कभी अपने प्राकृतिक रूप में दिखाई देते हैं, इसलिए कभी-कभी हमें मानव रूप धारण करके चलने और बात करने का आभास होता है। साहसी पुरुषों पर आधारित साहसिक कार्य और उनके विभिन्न साहसिक अनुभव भी बहुत लोकप्रिय हैं।

लोक कथाओं की एक अन्य विशेषता इसकी सरलता है। इन कहानियों का नायक चतुर, धोखेबाज है, फिर भी उसकी सरलता आकर्षक है। भारत में बीरबल की कहानियाँ, तेनालीराम की कहानियाँ इस कहानी के अच्छे उदाहरण थे। ये कहानियां अक्सर एक मजाक होती हैं। मराठी में, स्मार्ट बूढ़ा आदमी कई कहानियों से मिलता है। जावा की कहानी हास्य का भंडार है। दंतकथाएं वास्तविकता पर जोर देने वाली कहानियां हैं। वे ऐतिहासिक संतों के समान ही संत हैं। विल्हेम ग्रिम का डाई ड्यूश हेलेंसेंस जर्मन नायकों का एक उल्लेखनीय संग्रह है। भारत में रामायण, महाभारत की लोक परंपराओं की कहानियां महत्त्वपूर्ण हैं।

इस तथ्य के बावजूद कि बदलते विज्ञान युग में पारंपरिक मान्यताएं, परंपराएं और सिद्धांत मानव जीवन से गायब हो गए हैं, मानव के आदिम अबोध समूह के कुछ अनुभव स्वचालित रूप से पीढ़ियों के लिए संरक्षित हैं और वे दुनिया भर में आधुनिक साहित्य में फिर से दिखाई देते हैं। यहां तक कि पिछले अनुभवों के कुछ रूपांकनों को दोहराया जाता है। इसमें कई आर्कषक शब्द हैं, और आधुनिक साहित्य में भी, लेखक अज्ञानी है। एक अर्थ में, आधुनिक युग में भी, लोककथाओं के संरक्षण की यह मौलिक प्रवृत्ति अतीत, वर्तमान, भविष्य को जोड़ती है।

लोककथाएँ वे कहानियाँ हैं जो मनुष्य की कथा प्रवृत्ति के साथ चलकर विभिन्न परिवर्तनों एवं परिवर्धनों के साथ वर्तमान रूप में प्राप्त होती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कुछ निश्चित कथानक रूढ़ियों और शैलियों में ढली लोककथाओं के अनेक संस्करण, उसके नित्य नई प्रवृत्तियों और चरितों से युक्त होकर विकसित होने के प्रमाण है। एक ही कथा विभिन्न संदर्भों और अंचलों में बदलकर अनेक रूप ग्रहण करती हैं। लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी हमें मानव की परंपरागत वसीयत के रूप में प्राप्त हैं। दादी अथवा नानी के पास बैठकर बचपन में जो कहानियाँ सुनी जाती है, चौपालों में इनका निर्माण कब, कहाँ कैसे और किसके द्वारा हुआ, यह बताना असंभव है। यद्यपि दादी नानी से

ज्यादा कहानियाँ दादा नाना सुनाते हैं, लेकिन फिर भी दादी-नानी को ही ज्यादा महता देना भी विरासत में चली आ रही परिपाटी का ही परिणाम है!

लोककथा की विशेषताएं

लोककथा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. प्रेम का अभिन्न पुट
2. अश्लीलश्रृंगारका अभाव
3. मानव जीवन के मूल प्रवृतियों से निरंतर सहचर्य
4. लोकमंगल की कामना
5. सुखांतता
6. रहस्य रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता
7. उत्सुकता की भावना
8. वर्णन की स्वभाविकता

भारतीय लोक कथा साहित्य विश्व की सम्पन्न ऐतिहासिक धरोहर है।

लोककथाओं की प्राचीनता

कथाओं की प्राचीनता को ढूँढते हुए अंत में अन्वेषक ऋग्वेद के उन सूक्तों तक पहुँचकर रुक गए हैं जिनमें कथोपकथन के माध्यम से संवाद-सूक्त कहे गए हैं। पीछे ब्राह्मण ग्रंथों में भी उनकी परंपरा विद्यमान है। यही क्रम उपनिषदों में भी मिलता है, किंतु इन सबसे पूर्व कोई कथा कहानी थी ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रश्न उठता है जो प्रथाएँ उन सब में आई हैं उनका उद्‌गम कहाँ है? जहाँ उनका उद्‌गम होगा लोककथाओं का भी वही आरंभिक स्थान माना जाना चाहिए। पंचतंत्र की बहुत सी कथाएँ लोक-कथाओं के रूप में जनजीवन में प्रचलित हैं। किंतु यह भी सही है कि जितनी कथाएँ (पंचतंत्र के प्रकार की) लोकजीवन में मिल जाती हैं उतनी पंचतंत्र में भी नहीं मिलतीं। यदि यह कहा जाए कि विष्णु शर्मा ने लोकजीवन में प्रचलित कथाओं से लाभ उठाया होगा तो कोई, अनुपयुक्त बात नहीं होगी। हितोपदेश, बृहदश्लोक संग्रह, बृहत्कथा मंजरी, कथा बेताल पंचविंशति आदि का मूल लोकजीवन है। जातक कथाओं को अत्यधिक प्राचीन माना जाता है। इनकी संख्या 550 के लगभग है, किंतु लोककथाओं की कोई निर्धारित संख्या नहीं है। प्राकृत भाषा में भी अनेक कथाग्रंथ हैं। मूल पैशाची में लिखित बहुकहा कथा सरित्सागर, बृहत्कथा आदि

का उपजीव्य बनी। संस्कृत में उसकी कुछ कथाएँ रूपांतरित हुई। इस तरह लिखित रूप में वैदिक संवाद सूक्तों से प्रवाहित कथाधारा निरंतर प्रवाहित है, किंतु इन सबका योग भी लोकजीवन में प्रचलित कहानियों की बराबरी तक नहीं पहुँच सकता।

हिन्दी लोककथाएँ

हिंदी लोककथाओं के अध्ययन से इनकी कुछ अपनी विशेषताओं का पता चलता है। मनुष्य आदिकाल से सुखों की खोज में लगा हुआ है। सुख लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के हैं। भारतीय परंपरा में पारलौकिक को लौकिक से अधिक ऊँचा स्थान दिया जाता है। अंत भला तो सब भला के अनुसार हमारी लोककथाएँ भी सुखांत हुआ करती है। शायद ही ऐसी कोई कथा हो जो दु:खांत हो। चिर प्राचीन काल से ही भारतीय लोककथाओं की यही मुख्य प्रवृत्ति रही। इसलिए लोककथाओं के पात्र अनेक साहसिक एवं रोमांचकारी घटनाओं से होकर अंत में सुख की प्राप्ति करते हैं। संस्कृत के नाटकों की भाँति इनका भी अंत संयोग में ही होता है। ये कथाएँ मूल रूप में मंगलकामना की भावनाएँ लेकर आई। इसीलिए लोककथा कहनेवाले प्राय: कथाओं के अंत में कुछ मंगल वचन भी कहा करते हैं। जैसे –जिस प्रकार उनके (कथा के प्रमुख पात्र के), दिन फिरे, वैसे ही सात दुश्मन (बहुत बड़े शत्रु) के भी दिन फिरें।

विभिन्न प्रकार के दैविक एवं प्राकृतिक प्रकोपों का भय दिखाकर श्रोताओं को धर्म तथा कर्तव्यपालन के पथ पर ले आना भी बहुत सी लोककथाओं का लक्ष्य होता है। सारी सृष्टि उस समय एक धरातल पर उतर आती है जब सभी जीव-जंतुओ की भाषा एक हो जाती है। कहीं मनुष्य पशु से बात करता है तो कहीं पशु पक्षी से। सब एक दूसरे के दु:ख-सुख में समीप दिखाई पड़ते हैं। लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी किसी सीमा को स्वीकार नहीं करतीं। अंचलों की बात तो जाने दीजिए ये कथाएँ देशों और महाद्वीपों की सीमाएँ भी पार कर गई हैं। इन कथाओं की विशेषता यह भी है कि ये मानव जीवन के सभी पहलुओं से संपर्क रखती हैं। इधर लोककथाओं के जो संग्रह हुए हैं उनमें तो बहुत ही थोड़ी कथाएँ आ पाई हैं। भले ही हम उनके संरक्षण की बात करें परंतु अपनी विशेषताओं के कारण ही श्रुति एवं स्मृति के आधार पर जीवन प्राप्त करनेवाली ये कथाएँ युगों से चली आ रही हैं। ये कथाएँ मुख्य रूप से तीन शैलियों में कही जाती हैं। प्रथम गद्य शैली, इस प्रकार में पूरी कथा सरल एवं आंचलिक बोली

में गद्य में कही जाती है। द्वितीय गद्य पद्य मय कथाएँ –इन्हें चंपू शैली की कथा कहा जा सकता है। ऐसी कथाओं में प्राय: मार्मिक स्थलों पर पद्य रचना मिलती हैं। तीसरे प्रकार की कथाओं में पद्य गद्य के स्थान पर एक प्रवाह सा होता है। यह प्रवाह श्रोताओं पर अच्छा असर डालता है, किंतु इस में द्वितीय प्रकार की कथाओं के पद्यों की भाँति गेयता नहीं होती, जैसे–

जात रहे डाँड़े डाँड़े,
एक ठे पावा कौड़ी
ऊ कौड़ी गंगा के दिहा
गंगा वेचारी बालू दिहिनि
ऊ बालू मइँ भुँजवा के दिहा
भुँजवा बेचारा दाना दिहेसि –इत्यादि

कहानी कहनेवाला व्यक्ति कथा के प्रमुख पात्र (नायक) को पहले वाक्य में ही प्रस्तुत कर देता है, जैसे –एक रहे राजा या एक रहा दानव आदि। इस विशेषता के कारण लोककथाओं का श्रोता विशेष उलझन में नहीं पड़ता। लोकजीवन में कथा कहने के साथ ही उसे सुनने की शैली भी निर्धारित कर दी गई है। सुननेवालों में से कोई व्यक्ति, जब तक हुंकारी नहीं भरता तब तक कथा कहने वाले को आनंद ही नहीं आता। हुंकारी सुनने से कहनेवाला अँधेरे में भी समझता रहता है कि श्रोता कहानी को ध्यानपूर्वक सुन रहा है।

लोककथाओं के भेद

लोककथाओं को मुख्य रूप से निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है–

उपदेशात्मक कथाएँ

हिंदी की अनेक छोटी बड़ी कथाओं में मानव कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के उपदेश भरे पड़े हैं। ऐसी कथाएँ प्राय: अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा देती हैं। इसलिए ऐसा आभास नहीं होता कि उनका निर्माण उपदेश के लिए ही किया गया होगा। इनके माध्यम से गृहकलह एवं सामाजिक बुराइयों से बचने के लिए प्रेरणाएँ मिलती हैं। ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जिनमें कर्कशा नारियों के कारण परिवार को विभिन्न प्रकार के कष्टों का भाजन होना पड़ा है। इनमें विमाताओं तथा सौतों की कथाएँ प्रधान होती हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी भी कथाएँ मिलती हैं जिनमें मायावी स्त्रियाँ पर पुरुषों पर डोरे डालती हैं या जादू टोना किया करती हैं जिससे कथा के

नायक को तथा उससे संबंध रखनेवालों को विभिन्न संघर्षों का शिकार होना पड़ता है। पुत्र द्वारा पिता की आज्ञा न मानने पर कष्ट उठाने से संबद्ध भी अनेक कथाएँ हैं किंतु, जैसा कि ऊपर बताया गया है, ये सभी कथाएँ अंत में सुख एवं संयोग में समाप्त होती हैं। जब तक कथा समाप्त नहीं होती तब तक पात्रों और मुख्य रूप से नायकों को इतनी भयानक घटनाओं में फँसा देखा जाता है कि सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कुछ श्रोता तो वहीं कथा कहनेवाले तथ अन्य श्रोताओं की परवाह किए बिना नायक को कष्ट देनेवाले के नाते अपशब्द भी कहने लगते हैं। उन्हें ये सारी घटनाएँ सही मालूम पड़ती हैं।

सामाजिक कहानियाँ

इनमें विभिन्न प्रकार की बुराइयों से उत्पन्न घटनाओं का समावेश होता है। इनमें विशेष कर गृहकलह (सास-बहू एवं ननद भावज के झगड़े) एवं दुश्चरित्र और लंपट साधु संतों की करनी तथा अयोग्य नरेश के कारण प्रजा का दुखी होना दिखाया जाता है। बाल विवाह, बेमेल विवाह, बहु विवाह, विजातीय विवाह तथा दहेज आदि की निंदा भी इन कथाओं में मिलती हैं। योग्य या निरपराध व्यक्ति अयोग्य दुष्ट व्यक्ति के चंगुल में फँसकर परेशान होते दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक कहानियों में वे कथाएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं जिनमें नायिका मुख्य रूप से और नायक गौण रूप से भयानक परीक्षाएँ देते हैं। ऐसी परीक्षाओं में प्रायः सामाजिक एवं व्यक्तिगत चरित्र को प्रधानता दी जाती है। जिन नायक नायिकाओं के चरित्र ठीक होते हैं वे ऐसी कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते दिखाई पड़ते हैं। जैसे सच्चरित्र नारी जब तप्त तैल के कड़ाहे में हाथ डालकर अपने सतीत्व की परीक्षा देती है तो कड़ाहे का तप्त तेल शीतल होता है। पतिव्रता स्त्री सूर्य के रथ को भी रोक देती है। उसके भय से बड़े बड़े दैत्य दानव तथा डाइनें भूतप्रेत पास नहीं फटकते। इसी तरह चरित्रवान नायक भी विकट परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं।

धार्मिक लोककथाएँ

इनमें जप तप, व्रत-उपवास एवं उनसे प्राप्त उपलब्धियाँ संजोई गई हैं। सुखों की कामना के लिए कही गई इन व्रत कथाओं से उपदेश ग्रहण कर संबद्ध पर्वों के अवसरों पर स्त्रियाँ व्रतों का पालन किया करती हैं। पति, पुत्र एवं भाइयों की कुशलता तथा संपत्तिप्राप्ति इनका लक्ष्य होता है। ऐसी लोक कथाओं में बहुरा

(बहुला), जिउतिया (जीवित्पुत्रिका), करवा चौथ, अहाई, गनगौर और पिड़िया की कथाएँ मुख्य स्थान रखती हैं। पिड़िया का व्रत कुमारी बालिकाओं द्वारा भाइयों की कुशलता के लिए किया जाता है। यह व्रत कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से अगहन शुक्ल प्रतिपदा तक चलता हैं। इसे गोधन व्रत कथा की संज्ञा भी दी जाती है। जीवित्पुत्रिका (जिउतिया) व्रत पुत्र की प्राप्ति तथा उसे दीर्घ जीवन के लिए किया जाता है। इस अवसर पर भी कई लोककथाएँ कही जाती है। किंतु चील्ह तथा स्यारिन दोनों ने ही इस पर्व पर किसी समय व्रत किया था परंतु भूख की ज्वाला न सह सकने के कारण स्यारिन ने चुपके से खाद्य ग्रहण कर लिया। परिणाम यह हुआ कि उसके सभी बच्चे मर गए और व्रत निभानेवाली चील्ह के सभी बच्चे दीर्घ जीवन को प्राप्त हुए। इस पर्व के व्रतविश्वास से जब पुत्र की प्राप्ति होती है तो लोककथाओं में दिए गए संकेत के अनुसार उसका नाम जीउत रखा जाता है। ऐसा लगता है कि पुराणों में जीवत्पुत्रिका व्रत की कथा के साथ जो जीमूत वाहन की कथा संबद्ध है वह लोककथाओं के आधार पर ही है, क्योंकि पौराणिक जीमूत वाहन ने नागों की रक्षा के लिए अपनी देह का त्याग किया था। जिउतिया की कथा का भी उद्देश्य परोपकार के लिए आत्मोत्सर्ग कर देना ही है। करवा चौथ के व्रत में मुख्य रूप से उस राजा और रानी की कहानी कही जाती हैं जो दूसरों के बालकों से घृणा किया करते थे। इसीलिए उन्हें पुत्र नहीं हुआ। अंत में सूर्य की उपासना करने पर उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई।

प्रेमप्रधान लोककथाएँ

प्रेमप्रधान लोककथाएँ भी खूब मिलती हैं। इनमें मुख्य रूप में माता का पुत्र के प्रति, पुत्र का माता के प्रति, पत्नी का पति के और पति का पत्नी के प्रति तथा भाइयों बहनों का प्रेम दिखलाया जाता है। प्रायः सभी कथाओं में वर्णित प्रेम कर्तव्य एवं निष्ठा पर आधारित होता है। कुछ कथाएँ तो ऐसी भी हैं जिनमें जन्म जन्मांत्तर का प्रेम पल्लवित होते है। सदावृज-सारंगा की कथा पूर्व जन्मों के प्रेम पर ही आधारित हैं। शीत वसंत की कहानी में जहाँ विमाता के दुर्व्यवहार की बात आती है वहीं भाई-भाई का प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँचता दिखाई पड़ता है। भाई बहिन और पति पत्नी के प्रेम पर आधारित तो अनेक कथाएँ हैं। कई कथाओं में कुलीन एवं पतिपरायण स्त्रियाँ कुपात्र तथा घृणित रोगों से ग्रस्त पतियों को अपनी सेवा, श्रद्धा और भक्ति के बल पर बचा लेती हैं।

मनोरंजन संबंधी कथाएँ

इनका मूल उद्देश्य श्रोताओं के दिल बहलाव की सामग्री प्रस्तुत करना होता है। बालक बालिकाएँ ऐसी कहानियों को अति शीघ्र याद कर लेते हैं। ये कथाएँ प्रायः छोटी हुआ करती हैं। भिन्न-भिन्न जानवरों जैसे कुत्ता, बिल्ली, गीदड़, नेवला, शेर, भालू, सुग्गा, कौवा, चील्ह आदि से संबंध रखनेवाली ये कहानियाँ बालकों का मनोरंजन करती हैं। इनमें वर्णित विषय गंभीर भी होते हैं किंतु प्राथमिकता हल्की फुल्की बातों को दी जाती हैं। उदाहरण के लिए ढेले पर पात की एक लघु कथा लें –ढेले पत्ते में मित्रता हुई। ढेले ने पत्ते से कहा, आँधी आने पर मैं तुम्हारे ऊपर बैठ जाऊँगा तो तुम उड़ोगे नहीं। पत्ते ने कहा पानी आने पर मैं तुम्हारे ऊपर हो जाऊँगा तो तुम गलोगे नहीं। संयोग की बात कि आँधी पानी का आगमन साथ ही हुआ। पत्ता भाई उड़ गए और ढेला भाई गल गए। विभिन्न प्रकार की हास्य कथाएँ भी इसी प्रकार के अंतर्गत आती हैं।

जातीय पात्रों पर आधारित लोककथाएँ

अंत में ऐसी लोककथाओं की चर्चा भी अपेक्षित है जो जातीय पात्रों पर आधारित होती हैं। ऐसी कथाएँ अहीरों, धोबियों, नाइयों, मल्लाहों, चमारों तथा कुछ अन्य जातियों में हुए विशिष्ट नायकों पर आधारित होती हैं। इन कथाओं को संबंधित जातियाँ ही आपस में कहती सुनती हैं। वन्य जातियों, जैसे कोलों, भीलों, धीमरों, खरबारों, किरातों तथा दुसाधों आदि में ऐसी कथाएँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं।

कहा जाता है कि सभ्यताओं के अस्तित्त्व और उनकी संरचनाओं की पहचान का एक महत्वपूर्ण स्रोत कहानियां ही है। सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि संसार के समस्त आदि ग्रंथो की सारी संरचना कहानियों पर ही आधारित है। भारत को कहानियो का आदि देश माना जाता है। यहां वेद, ब्राह्मण, पुराण, उपनिषद् महाभारत, रामायण आदि की अनगिनत कहानियां लोक समाज में वाचिक परंपरा के रूप में सुने और सुनाएं जाते रहे हैं। वैदिक कथा हो या बौद्ध,जैन की जातक कथाएँ ये सभी लोक स्मृति में रचे बसे है। ये कथाएँ सस्कृत पाली और प्राकृत से होते हुए क्षेत्रीय और जनपदीय बोलियो में लोक कथाओं के रूप में प्रसार पाता रहा।

लोककथा-साहित्य को मुख्यरुप से दो श्रेणियों में देखा जा सकता है एक धर्मगाथा और दूसरा लोक कहानी का धर्मगाथा। लोकगाथा वस्तुतः लोककथा के ही रुप हैं लोककथा या लोककहानी के चार उद्देश्य माने जा सकते हैं।

1. मनोरंजन अथवा मन बहलाव के लिए
2. शिक्षा अथवा उपदेश के लिए
3. व्याख्या या समझने के लिए
4. वाणी विलास के लिए

प्राचीन विद्वान कथा साहित्य को दो रुपों में विभाजित करते हैं–

1. कथा–(कवि की कल्पना प्रसूत कहानी को कथा कहा जाता था)
2. आख्यायिका (इतिहास पर आधारित कहानी को आख्यायिका कहा जाता था)।

लोककथाओं की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। सर्वप्रथम वैदिक संहिताओं(ऋगवेद यजुर्वेद सामवेद और अर्थ्ववेद) में इन कथाओंके बीज उपलब्ध होते हैं। वैदिक संहिताओं के बाद आख्यान और इतिहास–पुराण की परम्परा का विस्तार लगभग 1000ई. पू तक ब्राह्मण–ग्रंथो के द्वारा होताहै। ब्राह्मण ग्रंथों में भी अनेक कथाएं उपलब्ध होती है। सतपत ब्राह्मण में पुरुरवा और उर्वशी की कथा नितांत प्रसिद्ध है। इसी कथा से प्रभावित होकर कालीदास ने विक्रमोवर्शी नाटक की रचना की है। ब्राहम्ण ग्रंथों के पश्चात उपनिषदों में भी अनेक कथाएं उल्लिखितहैं नचिकेता की सुप्रसिद्ध कहानी कठोपनिशद का प्रधान विषय है। वैदिक साहित्य के समानांतर आख्यान या प्राचीन कथाओ का जो लोकप्रिय साहित्य विकसित हो रहा था उसी प्रभाव और प्रेरणा से रामायण महाभारत, तथा पुराणों की रचनाएं ईसा से पहले की कुछ सदियो में होने लगी। आख्यान, उपाख्यान, आख्यायिका आदि उस समय की लोकप्रिय कथाओं के रूप थे जिन्हे सूत, मागध, चारण लोगों के सामने गा–गाकर या कह कर प्रस्तुत करते थे। आगे चलकर जब इन कथारूपों का परिष्कृत साहित्य की विधाओं में उपयोग किया गया तो संस्कृत साहित्य में कथा और आख्यायिका इन दो कथा विधाओं का विकास हुआ। ' महाभारत भारतीय उपाख्यान परंपरा का एक महाकोश है वाचिक परम्परा में प्रचलित सहस्रों कहानियाँ इसमें समाविष्ट कर ली गयी हैं। इसमे नलोपाख्यान सावित्र्युपाख्यान, शकुंतलोपाख्यान आदि ऐसी कथाएं है जो अत्यंत प्राचीन काल से हमारे समाज में बहुत लोकप्रिय रही है। ये कथाएं भारतीय कथासाहित्य की अमूल्य निधि हैं।

महाभारत के पश्चात लोककथाओं का सबसे प्राचीन तथा विशाल संग्रह गुणाढय की बृहत्कथा को माना जाता है। बृहत्कथा में कहानी ने अपना सहज रूप पाया वह जन–जन के मन में रमी, समाज में कही–सुनी जाने वाली कथाओं से जुड्कर आगे बढी। अपनी प्रसिद्धि से इसके लेखक गुनाढ्य अपने आप में एका

किंवदंती बन गए। कहानियों का यह विराट संकलन गुनाढ्य ने पैशाची प्राकृत में लगभग पहली शताब्दी ईसवी पूर्व में लिखा था जो बाद में लुप्त हो गया। संस्कृत में कई रचनाकारों ने इसके अनेक **रूपांतर** किए। इन रूपांतरों में सोमदेव का कथासरित्सागर कथानक की प्रस्तुति की दृष्टि से तथा वर्णन शैली, विदगधता और कवि प्रतिभा के योग के कारण अधिक सुपाठ्य और रोचक है। इसके बाद पंचतंत्र का संस्कृत के कथा साहित्य में अद्वितीय स्थान है।

इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी कथाओं ने संसार की कहानियों को प्रभावित किया। आचार्य विष्णु शर्मा द्वारा रचित पंचतंत्र संस्कृत साहित्य का सबसे प्राचीन एवं मौलिक कथा ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना पांच भागों(तंत्र)में की गई है इसलिए इसका नाम पंचतंत्र पड़ा। नीति संबंधी कथा ग्रंथों में पंचतंत्र के बाद हितोपदेश का स्थान है। इस ग्रंथ के लेखक नारायण पंडित थे जो बंगाल के राजा धवलचंद्र के आश्रय में रहते थे। इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के आसपास हुई। इसी प्रकार बेतालपचीसी और सिंहासनबत्तीसी संस्कृत के प्रसिद्ध कथा ग्रंथ माने जाते हैं। कथा संस्कृति के संदर्भ में राधावल्ल्भ त्रिपाठी का मत उल्लेखनीय है–,वैदिक काल में रची कथाओं से लेकर महाभारत या बृहत्कथा तक की भारतीय कथा परंपरा में कहानी की मुहजबानी बयान की शैली के दर्श्न होते हैं...ऐसे गद्य रूपो को देखकर लगता है। कि जिस प्रकार वेदमंत्रो के विपुल भंडार को कुछ हजार वर्षो की अवधि में पीढ़ी दर पीढ़ी कण्ठस्थ करते हुए हमारे पूर्वजो ने जस का तस बचाकर रखा उसी तरह कहानी के गद्य को भी बिना पाठान्तर के जस का तस बचाया गया। ' डा. कृष्णदेव उपाध्याय ने वर्ण्य विषयों की दृष्टि से लोककथाओं का वर्गीकरण छः प्रकार से किया है।

1. नीति कथा, 2. व्रतकथा 3. प्रेम कथा 4.मनोरंजक कथा 5. दंत कथा 6. पौराणिक कथा।

लोककथा का प्रधान उद्देश्य नीति कथन होता है। पंचतंत्र तथा हितोपदेश की समस्त कथाएं इसी श्रेणी में अंतर्भूत की जा सकती है। धर्म भारतीय जीवन का अविछिन्न अंग है। धार्मिक क्रियाकलापों में व्रतों का महत्वपूर्ण स्थान है। इन व्रतों के संबंध में अनेक कथाएं प्रचलित है। सत्यनारायण की कथा, अनंत चतुर्दशी की कथा, करवाचौथ की कथा, व्रत कथा के अंतर्गत आती है। कुछ ऐसी कथाएं भी होती है जिनका मुख्य वर्ण्य विषय प्रेम होता है चाहे वह प्रेम माता का पुत्र के प्रति हो, पति पत्नी के बीच का हो, भाई बहन के प्रति प्रेम हो इन सभी प्रेम कथाओं को आधार बना कर कही गई कथाएं प्रेमकथाएं कहलाती हैं। मनोरंजक

कथाओं का उद्देश्य श्रोताओं का मनोरंजन करना है। चिर कालीन परंपरा से चली आती हुई किसी प्रसिद्ध कथा को दंत कथा कहते हैं। इसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण पाया जाता है। राजा विक्रमादित्य के न्याय की, आल्हा उदल की वीरता की अनेक कथाएं मनोरंजक कथाओं के रुप में प्रसिद्ध है।

लोकसाहित्य में पौराणिक कथाएं भी जन प्रचलित रहे हैं। जिन में गोपीचंद भरथरी, सरवन नल दमयंती, सिबी,दधिची आदि का नाम लिया जा सकता है। " दंत कथाएं ऐतिहासिक तथ्यों संबंधित व्यक्तियों घटनाओं और स्थानों पर आधारित सांसारिक गद्य वृतांत होती है जिनको मौखिक रुप से प्रसारित किया जाता है। लोककथाएं सरल मनोरंजन गद्य वृतांत होते हैं जिनमें संसोधन किए जा सकते हैं लोककथाओं की प्रवृति अधिकतर काल्पनिक होती है इनमें हवाई विचारों की प्रमुखता होती है। लोक कथाओं के वर्णन में न केवल सैद्धांतिक पाठ सम्मिलित होता है बल्कि अभिव्यक्ति हाव भाव और अभिनय के संचालन आदि भी मौजूद होते हैं।

एक ही कथा विभिन्न क्षेत्रों अंचलों और परिवेश में बदल कर अनेक रुपों में बदल जाती है।, (भारत की लोककथाएं, ए. के. रामानुजन।) इसी संदर्भ में श्याम परमार लिखते हैं–भारतीय लोककथाओं का तो अपना विशेष महत्व है उनकी प्रवृतियों के संबंध में यह बात प्रसिद्ध है कि उनके प्रमुख लक्षणों की पुनरावृति होती रहती है। वास्तव में यह एक सच्चाई है। पंजाब, बंगाल, बिहार, राजस्थान महाराष्ट्र, मेवाड़ अथवा मालवा आदि स्थानों में पाए जाने वाली लोककथाओं में अनेक कथाएं एक दूसरे से वस्तु, पात्र, चित्रण और शैली में सादृश्य रखती है। यह बात ध्यान देने की है कि दूर दूर तक जातियों के फैलने बसने और संपर्क स्थापित करने से कथाएं एक स्थान पर नहीं रह सकी। उन्होने भी यात्राएं की संपर्क बढाए और प्रभुत्व स्थापित किए। ... बौद्ध मतावलम्बिओं के साथ वे मध्य एवं पूर्वी एशिया तक पहुंची है अत: जिसे हम भारतीय कथा साहित्य कहते हैं वह वास्तव में एशियाई कथा साहित्य–तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय और चीनी साहित्य है"

जातक कथाओं प्राचीन वेदों के आख्यान कथा सरित्सागर, बेतालपंचविशति, हितोपदेश आदि ग्रंथों में आई कहानियों के बदले रुप लोक कथाओं में मिल जाते है। इससे यह धारणा और भी पुष्ट होती है कि कथाएं जातियों के फैलने बसने के साथ साथ फैलती जाती है। कहानी कहने का मुख्य उदेश्य बच्चों को सुलाने या ज्यादा खिलाने के लिए ही नहीं बड़ों को जगाए रखने के लिए भी सुनाई जाती

है। जब किसान रात को खेतों की रखवाली के लिए एकत्र होते है या दिन को गाय अथवा भेड़े चराते है या जब मजदूर फसल कटाई करते है या फैक्ट्री में बीड़ी बनाते है। लोक कथाएं श्रम गीतों की तरह आसानी से समय काटने का अच्छा माध्यम है। कहानी का कल्पनालोक श्रम की एकरसता को भुलाकर फिर से उर्जा और स्फूर्ति प्रदान करती है। यही कारण है कि लोक जीवन में लोककथाएं वेहद प्रचलित हैं।" काव्य की तरह लोककथा भी अपनी बुनाबट में सांस्कृतिक तत्त्वों को समेटे हुए है। लोककथा गतिशील रुपक है जो हर बार सुनाए जाने पर अपना अर्थबदल लेता है।

सिंहासन बत्तीसी

सिंहासन बत्तीसी एक लोककथा संग्रह है। महाराजा विक्रमादित्य भारतीय लोककथाओं के एक बहुत ही चर्चित पात्र रहे हैं। प्राचीनकाल से ही उनके गुणों पर प्रकाश डालने वाली कथाओं की बहुत ही समृद्ध परम्परा रही है। सिंहासन बत्तीसी भी 32 कथाओं का संग्रह है जिसमें 32 पुतलियाँ विक्रमादित्य के विभिन्न गुणों का कथा के रूप में वर्णन करती हैं।

इतिहास व रचना काल

सिंहासन बत्तीसी मूलत: संस्कृत की रचना सिंहासनद्वात्रिंशति का हिन्दी रूपांतर है, जिसे द्वात्रिंशत्पुत्तलिका के नाम से भी जाना जाता है। संस्कृत में भी इसके मुख्यत: दो संस्करण हैं. उत्तरी संस्करण सिंहासनद्वात्रिंशति के नाम से तथा दक्षिणी संस्करण विक्रमचरित के नाम से उपलब्ध है। पहले के संस्कर्ता क्षेमेन्द्र मुनि कहे जाते हैं। बंगाल में वररुचि के द्वारा प्रस्तुत संस्करण भी इसी के समरूप माना जाता है। इसका दक्षिणी रूप अधिक लोकप्रिय हुआ। सिंहासन बत्तीसी भी वेताल पच्चीसी या वेतालपंचविंशति की भांति बहुत लोकप्रिय हुआ। लोकभाषाओं में इसके अनुवाद होते रहे और पौराणिक कथाओं की तरह भारतीय समाज में मौखिक परम्परा के रूप में रच-बस गए। इन कथाओं की रचना वेतालपंचविंशति या वेताल पच्चीसी के बाद हुई। पर निश्चित रूप से इनके रचनाकाल के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। इतना लगभग तय है कि इनकी रचना धारा के राजा भोज के समय में नहीं हुई। चूंकि प्रत्येक कथा राजा भोज का उल्लेख करती है, अत: इसका रचना काल 11वीं शताब्दी के बाद होगा।

कथा की भूमिका

इन कथाओं की भूमिका भी कथा ही है जो राजा भोज की कथा कहलाती है। 32 कथाएँ, 32 पुतलियों के मुख से कही गई हैं जो एक सिंहासन में लगी हुई हैं। यह सिंहासन राजा भोज को विचित्र परिस्थिति में प्राप्त होता है। एक दिन राजा भोज को मालूम होता है कि एक साधारण-सा चरवाहा अपनी न्यायप्रियता के लिए विख्यात है, जबकि वह बिल्कुल अनपढ़ है तथा पुश्तैनी रूप से उनके ही राज्य के कुम्हारों की गायें, भैंसे तथा बकरियाँ चराता है। जब राजा भोज ने तहकीकात कराई तो पता चला कि वह चरवाहा सारे फैसले एक टीले पर चढ़कर करता है। राजा भोज की जिज्ञासा बढ़ी और उन्होंने खुद भेष बदलकर उस चरवाहे को एक जटिल मामले में फैसला करते देखा। उसके फैसले और आत्मविश्वास से भोज इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उससे उसकी इस अद्वितीय क्षमता के बारे में जानना चाहा। जब चरवाहे ने जिसका नाम चन्द्रभान था बताया कि उसमें यह शक्ति टीले पर बैठने के बाद स्वत: चली आती है, भोज ने सोचविचार कर टीले को खुदवाकर देखने का फैसला किया। जब खुदाई सम्पन्न हुई तो एक राजसिंहासन मिट्टी में दबा दिखा। यह सिंहासन कारीगरी का अभूतपूर्व रूप प्रस्तुत करता था। इसमें बत्तीस पुतलियाँ लगी थीं तथा कीमती रत्न जड़े हुए थे। जब धूल-मिट्टी की सफाई हुई तो सिंहासन की सुन्दरता देखते बनती थी। उसे उठाकर महल लाया गया तथा शुभ मुहूर्त में राजा का बैठना निश्चित किया गया। ज्योंहि राजा ने बैठने का प्रयास किया सारी पुतलियाँ राजा का उपहास करने लगीं। खिलखिलाने का कारण पूछने पर सारी पुतलियाँ एक-एक कर विक्रमादित्य की कहानी सुनाने लगीं तथा बोली कि इस सिंहासन जो कि राजा विक्रमादित्य का है, पर बैठने वाला उसकी तरह योग्य, पराक्रमी, दानवीर तथा विवेकशील होना चाहिए। ये कथाएँ इतनी लोकप्रिय हैं कि कई संकलनकर्त्ताओं ने इन्हें अपनी-अपनी तरह से प्रस्तुत किया है। सभी संकलनों में पुतलियों के नाम दिए गए हैं पर हर संकलन में कथाओं के क्रम में तथा नामों में और उनके क्रम में भिन्नता पाई जाती है।

बैताल पच्चीसी

बैताल पचीसी (वेताल पचीसी या बेताल पच्चीसी या संस्कृत: बेतालपंचविंशतिका) पच्चीस कथाओं से युक्त एक कथा ग्रन्थ है। इसके रचयिता बेतालभट्ट बताये जाते हैं जो न्याय के लिये प्रसिद्ध राजा विक्रम के नौ रत्नों में से

एक थे। ये कथायें राजा विक्रम की न्याय-शक्ति का बोध कराती हैं। बेताल प्रतिदिन एक कहानी सुनाता है और अन्त में राजा से ऐसा प्रश्न कर देता है कि राजा को उसका उत्तर देना ही पड़ता है। उसने शर्त लगा रखी है कि अगर राजा बोलेगा तो वह उससे रूठकर फिर से पेड़ पर जा लटकेगा। लेकिन यह जानते हुए भी सवाल सामने आने पर राजा से चुप नहीं रहा जाता।

बैताल पचीसी की कहानियाँ भारत की सबसे लोकप्रिय कथाओं में से हैं। इनका स्रोत राजा सातवाहन के मन्त्री "गुणाढ्य" द्वारा रचित "बड़ कहा" (संस्कृत: बृहत्कथा) नामक ग्रन्थ को दिया जाता है जिसकी रचना ई. पूर्व 495 में हुई थी। कहा जाता है कि यह किसी पुरानी प्राकृत में लिखा गया था और इसमें 7 लाख छन्द थे। आज इसका कोई भी अंश कहीं भी प्राप्त नहीं है। कश्मीर के कवि सोमदेव ने इसको फिर से संस्कृत में लिखा और कथासरित्सागर नाम दिया। बड़कहा की अधिकतम कहानियों को कथा सरित्सागर में संकलित कर दिए जाने के कारण ये आज भी हमारे पास हैं। "वेताल पन्चविन्शति" यानी बेताल पच्चीसी "कथा सरित सागर" का ही भाग है। समय के साथ इन कथाओं की प्रसिद्धि अनेक देशों में पहुँची और इन कथाओं का बहुत सी भाषाओं में अनुवाद हुआ। बेताल के द्वारा सुनाई गई ये रोचक कहानियाँ सिर्फ दिल बहलाने के लिये नहीं हैं, इनमें अनेक गूढ अर्थ छिपे हैं। क्या सही है और क्या गलत, इसको यदि हम ठीक से समझ ले तो सभी प्रशासक राजा विक्रम की तरह न्याय प्रिय बन सकेंगे और छल व द्वेष छोड़कर, कर्म और धर्म की राह पर चल सकेंगे। इस प्रकार ये कहानियाँ न्याय, राजनीति और विषम परिस्थितियों में सही निर्णय लेने की क्षमता का विकास करती हैं।

पंचतंत्र

संस्कृत नीतिकथाओं में पंचतंत्र का पहला स्थान माना जाता है। यद्यपि यह पुस्तक अपने मूल रूप में नहीं रह गयी है, फिर भी उपलब्ध अनुवादों के आधार पर इसकी रचना तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के आस–पास निर्धारित की गई है। इस ग्रंथ के रचयिता पं. विष्णु शर्मा है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि जब इस ग्रंथ की रचना पूरी हुई, तब उनकी उम्र लगभग 80 वर्ष थी। पंचतंत्र को पाँच तंत्रों (भागों) में बाँटा गया है–

मित्रभेद (मित्रों में मनमुटाव एवं अलगाव)
मित्रलाभ या मित्रसंप्राप्ति (मित्र प्राप्ति एवं उसके लाभ)

काकोलुकीयम् (कौवे एवं उल्लुओं की कथा)
लब्धप्रणाश (हाथ लगी चीज (लब्ध) का हाथ से निकल जाना (हानि))

अपरीक्षित कारक (जिसको परखा नहीं गया हो उसे करने से पहले सावधान रहें या हड़बड़ी में कदम न उठायें)

मनोविज्ञान, व्यवहारिकता तथा राजकाज के सिद्धांतों से परिचित कराती ये कहानियाँ सभी विषयों को बड़े ही रोचक तरीके से सामने रखती है तथा साथ ही साथ एक सीख देने की कोशिश करती है।

पंचतंत्र की कई कहानियों में मनुष्य-पात्रों के अलावा कई बार पशु-पक्षियों को भी कथा का पात्र बनाया गया है तथा उनसे कई शिक्षाप्रद बातें कहलवाने की कोशिश की गई है।

पंचतन्त्र की कहानियां बहुत जीवंत हैं। इनमें लोकव्यवहार को बहुत सरल तरीके से समझाया गया है। बहुत से लोग इस पुस्तक को नेतृत्व क्षमता विकसित करने का एक सशक्त माध्यम मानते हैं। इस पुस्तक की महत्ता इसी से प्रतिपादित होती है कि इसका अनुवाद विश्व की लगभग हर भाषा में हो चुका है।

नीतिकथाओं में पंचतंत्र का पहला स्थान है। पंचतंत्र ही हितोपदेश की रचना का आधार है। स्वयं नारायण पण्डित जी ने स्वीकार किया है-

विभिन्न उपलब्ध अनुवादों के आधार पर इसकी रचना तीसरी शताब्दी के आस-पास निर्धारित की जाती है। पंचतन्त्र की रचना किस काल में हुई, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि पंचतन्त्र की मूल प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है। कुछ विद्वानों ने पंचतन्त्र के रचयिता एवं पंचतन्त्र की भाषा शैली के आधर इसके रचनाकाल के विषय में अपने मत प्रस्तुत किए है।

महामहोपाध्याय पं. सदाशिव शास्त्री के अनुसार पंचतन्त्र के रचयिता विष्णुशर्मा थे और विष्णुशर्मा चाणक्य का ही दूसरा नाम था। अत: पंचतन्त्र की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही हुई है और इसका रचना काल 300 ई.पू. माना जा सकता है। पर पाश्चात्य तथा कुछ भारतीय विद्वान् ऐसा नहीं मानते, उनका कथन है कि चाणक्य का दूसरा नाम विष्णुगुप्त था विष्णुशर्मा नहीं, तथा उपलब्ध पंचतन्त्र की भाषा की दृष्टि से तो यह गुप्तकालीन रचना प्रतीत होती है।

महामहोपाध्याय पं. दुर्गाप्रसाद शर्मा ने विष्णुशर्मा का समय अष्टमशतक के मध्य भाग में माना है क्योंकि पंचतन्त्र के प्रथम तन्त्र में आठवीं शताब्दी

के दामोदर गुप्त द्वारा रचित कुट्टिनीमत की फ्पर्यघ्क: स्वास्तरणम्य् इत्यादि आर्या देखी जाती है, अत: यदि विष्णुशर्मा पंचतन्त्र के रचयिता थे तो वे अष्टम शतक में हुए होंगे। परन्तु केवल उक्त लोक के आधर पर पंचतन्त्र की रचना अष्टम शतक में नहीं मानी जा सकती, क्योंकि यह लोक किसी संस्करण में प्रक्षिप्त भी हो सकता है।

हर्टेल और डॉ. कीथ, इसकी रचना 200 ई.पू. के बाद मानने के पक्ष में है। चाणक्य के अर्थशास्त्र का प्रभाव भी पंचतन्त्र में दिखाई देता है इसके आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि चाणक्य का समय लगभग चतुर्थ शताब्दी पूर्व का है अत: पंचतन्त्र की रचना तीसरी शताब्दी के पूर्व हुई होगी।

इस प्रकार पंचतन्त्र का रचनाकाल विषयक कोई भी मत पूर्णतया सर्वसम्मत नहीं है।

पंचतंत्र के संस्करण

पंचतन्त्र के चार संस्करण उपलब्ध हैं–

प्रथम संस्करण मूलग्रन्थ का पहलवी अनुवाद है जो अब सीरियन एवं अरबी अनुवादों के रूप में प्राप्त होता है।

द्वितीय संस्करण के रूप में पंचतन्त्र गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' में दिखाई पड़ता है। 'बृहत्कथा की रचना पैशाची भाषा में हुई थी किन्तु इसका मूलरूप नष्ट हो गया है और क्षेमेन्द्रकृत 'बृहत्कथा मंजरी' तथा सोमदेव लिखित 'कथासरित्सागर' उसी के अनुवाद हैं।

तृतीय संस्करण में तन्त्राख्यायिका एवं उससे सम्बद्ध जैन कथाओं का संग्रह है। 'तन्त्राख्यायिका' को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। इसका मूल स्थान कश्मीर है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्टेल ने अत्यन्त श्रम के साथ इसके प्रामाणिक संस्करण को खोज निकाला था। इनके अनुसार 'तन्त्राख्यायिका' या तन्त्राख्या ही पंचतन्त्र का मूलरूप है। यही आधुनिक युग का प्रचलित 'पंचतन्त्र' है। चतुर्थ संस्करण दक्षिणी 'पंचतन्त्र' का मूलरूप है तथा इसका प्रतिनिधित्व नेपाली 'पंचतन्त्र' एवं 'हितोपदेश' करते हैं।

इस प्रकार 'पंचतन्त्र' एक ग्रन्थ न होकर एक विशाल साहित्य का प्रतिनिधि है।

विश्व-साहित्य में भी पंचतन्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कई विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इन अनुवादों में पहलवी भाषा का 'करटकदमनक'

नाम का अनुवाद ही सबसे प्राचीन अनुवाद माना जाता है। विंटरनित्ज के अनुसार जर्मन साहित्य पर पंचतन्त्र का अधिक प्रभाव देखा जाता है। इसी प्रकार ग्रीक की ई. की कहानियों का तथा अरब की अरेबिअन नाइट्स' आदि कथाओं का आधार पंचतन्त्र ही है। ऐसा माना जाता है कि पंचतन्त्र का लगभग 50 विविध भाषाओं में अब तक अनुवाद हो चुका है और इसके लगभग 200 संस्करण भी हो चुके हैं। यही इसकी लोकप्रियता का परिचायक है।

पंचतन्त्र का स्वरूप

पंचतन्त्र में पांच तन्त्र या विभाग है। (पंचानाम् तन्त्राणाम् समाहार: –द्विगुसमास) विभाग को तन्त्र इसलिए कहा गया है क्योंकि इनमें नैतिकतापूर्ण शासन की विधियाँ बतायी गयीं हैं। ये तन्त्र हैं–मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति (मित्रलाभ), काकोलूकीयम् (सन्धि-विग्रह), लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक।

संक्षेप में इन तन्त्रों की विषयवस्तु इस प्रकार है–

मित्रभेद

नीतिकथाओं में एक मुख्य कथा होती है और उसको पुष्ट करने के लिए अनेक गौण कथाएं होती हैं उसी प्रकार 'मित्रभेद' नामक इस प्रथम तन्त्र में अंगीकथा के पूर्व दक्षिण में महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति की कथा दी गई है जिसमें यह बताया गया है कि वे अपने मूर्ख पुत्रों के कारण चिन्तित थे और इसलिए वे विष्णुशर्मा नामक विद्वान् को अपने पुत्रों को शिक्षित करने के लिए सौंप देते है और विष्णुशर्मा उन्हें छ: मास में ही कथाओं के माध्यम से सुशिक्षित करने में सफल होते हैं। तत्पश्चात् मित्रभेद नामक भाग की अंगी-कथा में, एक दुष्ट सियार द्वारा पिंगलक नामक सिंह के साथ संजीवक नामक बैल की शत्रुता उत्पन्न कराने का वर्णन है जिसे सिंह ने आपत्ति से बचाया था और अपने दो मन्त्रियों–करकट और दमनक के विरोध करने पर भी उसे अपना मित्र बना लिया था। इस तन्त्र में अनेक प्रकार की शिक्षाएं दी गई है जैसे कि धैर्य से व्यक्ति कठिन से कठिन परिस्थिति का भी सामना कर सकता है अत: प्रारब्ध के बिगड़ जाने पर भी धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिए-

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेअपि काले धैर्यात्कदाचित् गतिमाप्नुयात्स: (मित्रभेद, लोक 345)

मित्रसम्प्राप्ति

इस तन्त्र में मित्र की प्राप्ति से कितना सुख एवं आनन्द प्राप्त होता है वह कपोतराज चित्रग्रीव की कथा के माध्यम से बताया गया है। विपत्ति में मित्र ही सहायता करता है–

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते।
वाड्मात्रेणापि साहा"यंमित्रादन्यो न संदधे (मित्रसम्प्राप्ति लोक 12)

ऐसा कहा गया है कि मित्र का घर में आना स्वर्ग से भी अधिक सुख को देता है।

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किंचत्प्रतिमं सुखम् (मित्रसम्प्राप्ति लोक 18)

इस प्रकार इस तन्त्र का उपदेश यह है कि उपयोगी मित्र ही बनाने चाहिए जिस प्रकार कौआ, कछुआ, हिरण और चूहा मित्रता के बल पर ही सुखी रहे।

काकोलूकीय

इसमें युद्ध और सन्धि का वर्णन करते हुए उल्लुओं की गुहा को कौओं द्वारा जला देने की कथा कही गयी है। इसमें यह बताया गया है कि स्वार्थसिद्धि के लिए शत्रु को भी मित्र बना लेना चाहिए और बाद में धोखा देकर उसे नष्ट कर देना चाहिए। इस तन्त्र में भी कौआ उल्लू से मित्रता कर लेता है और बाद में उल्लू के किले में आग लगवा देता है। इसलिए शत्रुओं से सावधन रहना चाहिए क्योंकि जो मनुष्य आलस्य में पड़कर स्वच्छन्दता से बढ़ते हुए शत्रु और रोग की उपेक्षा करता है–उसके रोकने की चेष्टा नहीं करता वह क्रमशः उसी (शत्रु अथवा रोग) से मारा जाता है–

य उपेक्षेत शत्रु स्वं प्रसरस्तं यदृच्छया।
रोग चा*लस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते (काकोलूकीय लोक 2)

लब्धप्रणाश

इस तन्त्र में वानर और मगरमच्छ की मुख्य कथा है और अन्य अवान्तर कथाएं हैं। इन कथाओं में यह बताया गया है कि लब्ध अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति होते होते कैसे रह गई अर्थात नष्ट हो गई। इसमें वानर और मगरमच्छ की कथा के माध्यम से शिक्षा दी गई है कि बुद्धिमान अपने बुद्धिबल से जीत जाता है और मूर्ख हाथ में आई हुई वस्तु से भी वंचित रह जाता है।

अपरीक्षितकारक

पंचतन्त्र के इस अन्तिम तन्त्र अर्थात् भाग में विशेषरूप से विचार पूर्वक सुपरीक्षित कार्य करने की नीति पर बल दिया है क्योंकि अच्छी तरह विचार किए बिना एवं भलीभांति देखे सुने बिना किसी कार्य को करने वाले व्यक्ति को कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती अपितु जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अत: अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। इस तन्त्र की मुख्य कथा में बिना सोचे समझे अन्धानुकरण करने वाले एक नाई की कथा है जिसको मणिभद्र नाम के सेठ का अनुकरण कर जैन-संन्यासियों के वध के दोष पर न्यायाधीशों द्वारा मृत्युदण्ड दिया गया। अत: बिना परीक्षा किए हुए नाई के समान अनुचित कार्य नहीं करना चाहिए–

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत् कृतम्

इसमें यह भी बताया है कि पूरी जानकारी के बिना भी कोई कार्य नहीं करना चाहिए क्योंकि बाद में पछताना पड़ता है जैसे कि ब्राह्मण पत्नी ने बिना कुछ देखे खून से लथपथ नेवले को यह सोचकर मार दिया कि इस ने मेरे पुत्र को खा लिया है वस्तुत: नेवले ने तो सांप से बच्चे की रक्षा करने के लिए सांप को मारा था जिससे उसका मुख खून से सना हुआ था।

इसलिए कहा गया–

अपरीक्ष्य न कर्त्तव्यं कर्त्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चात् भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुले यथा

इस प्रकार पंचतन्त्र एक उपदेशपरक रचना है। इसमें लेखक ने अपनी व्यवहार कुशलता राजनैतिकपटुता एवं ज्ञान का परिचय दिया है। नीति-कथाओं के मानवेतर पात्र प्राय: दो प्रकार के होते हैं, सजीव प्राणी तथा अचेतन पदार्थ। पंचतन्त्र में भी ये दो प्रकार के पात्र देखे जाते हैं–पशुओं में सिंह, व्याघ्र, शृंगाल, शशक, वृषभ, गधा, आदि, पक्षियों में काक, उलूक, कपोत, मयूर, चटक, शुक आदि तथा इतर प्राणियों में सर्प, नकुल, पिपीलिका आदि। इनके अतिरिक्त नदी, समुद्र, वृक्ष, पर्वत, गुहा आदि भी अचेतन पात्र हैं, जिन पर कि मानवीय व्यवहारों का आरोप किया गया है। पंचतन्त्र में मानव को व्यवहार कुशल बनाने का प्रयास अत्यधिक सरल एवं रोचक शैली में किया गया है। पंचतन्त्र के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि–

"पंचतन्त्र एक नीति शास्त्र या नीति ग्रन्थ है–नीति का अर्थ जीवन में बुद्धि पूर्वक व्यवहार करना है। चतुरता और धूर्तता नहीं, नैतिक जीवन वह जीवन है जिसमें मनुष्य की समस्त शक्तियों और सम्भावनाओं का विकास हो अर्थात् एक ऐसे जीवन की प्राप्ति हो जिसमें आत्मरक्षा, धन–समृद्धि, सत्कर्म, मित्रता एवं विद्या की प्राप्ति हो सके और इनका इस प्रकार समन्वय किया गया हो कि जिससे आनंद की प्राप्ति हो सके, इसी प्रकार के जीवन की प्राप्ति के लिए, पंचतन्त्र में चतुर एवं बुद्धिमान पशु–पक्षियों के कार्य व्यापारों से सम्बद्ध कहानियां ग्रथित की गई हैं। पंचतन्त्र की परम्परा के अनुसार भी इसकी रचना एक राजा के उन्मार्गगामी पुत्रों की शिक्षा के लिए की गई है और लेखक इसमें पूर्ण सफल रहा है।"

हितोपदेश

हितोपदेश भारतीय जन–मानस तथा परिवेश से प्रभावित उपदेशात्मक कथाएँ हैं। हितोपदेश की कथाएँ अत्यन्त सरल व सुग्राह्य हैं। विभिन्न पशु–पक्षियों पर आधारित कहानियाँ इसकी खास विशेषता हैं। रचयिता ने इन पशु–पक्षियों के माध्यम से कथाशिल्प की रचना की है जिसकी समाप्ति किसी शिक्षाप्रद बात से ही हुई है। पशुओं को नीति की बातें करते हुए दिखाया गया है। सभी कथाएँ एक–दूसरे से जुड़ी हुई प्रतीत होती हैं।

रचयिता

हितोपदेश के रचयिता नारायण पण्डित हैं। पुस्तक के अंतिम पद्यों के आधार पर इसके रचयिता का नाम नारायण ज्ञात होता है।

नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोअयं कथानाम्

पण्डित नारायण ने पंचतन्त्र तथा अन्य नीति के ग्रंथों की मदद से हितोपदेश नामक इस ग्रंथ का सृजन किया। स्वयं पं. नारायण जी ने स्वीकार किया है––

पंचतन्त्रान्तथाडन्यस्माद् ग्रंथादाकृष्य लिख्यते।

इसके आश्रयदाता का नाम धवलचंद्र है। धवलचंद्रजी बंगाल के माण्डलिक राजा थे तथा नारायण पण्डित राजा धवलचंद्रजी के राजकवि थे। मंगलाचरण तथा समाप्ति लोक से नारायण की शिव में विशेष आस्था प्रकट होती है।

रचना काल

नीतिकथाओं में पंचतन्त्र का पहला स्थान है। विभिन्न उपलब्ध अनुवादों के आधार पर इसकी रचना तीसरी शताब्दी के आस-पास निर्धारित की जाती है। हितोपदेश की रचना का आधार पंचतन्त्र ही है।

कथाओं से प्राप्त साक्ष्यों के विश्लेषण के आधार पर डा. फ्लीट कर मानना है कि इसकी रचना काल 11 वीं शताब्दी के आस-पास होना चाहिये। हितोपदेश का नेपाली हस्तलेख 1373 ई. का प्राप्त है। वाचस्पति गैरोला जी ने इसका रचनाकाल 14 वीं शती के आसपास माना है।

हितोपदेश की कथाओं में अर्बुदाचल (आबू), पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, मालवा, हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज (कन्नौज), वाराणसी, मगधदेश, कलिंगदेश आदि स्थानों का उल्लेख है, जिसमें रचयिता तथा रचना की उद्गमभूमि इन्हीं स्थानों से प्रभावित है।

भारतीय लोक कथाओं का वैश्विक परिदृश्य

सीरिया से प्राप्त एक चित्र जिसमें कौवे घात लगाकर उल्लुओं को मारते हुए दिखाये गये हैं। यह कथा काकोलूकीयम् की प्रमुख कथा है।

संस्कृत का कथासाहित्य और विशेषत: पंचतंत्र, विश्वसाहित्य को भारत की देन है। ये कहानियाँ भारत के निवासियों का ही शिक्षण और मनोरंजन नहीं करतीं, प्रत्युत विश्व के सभ्य साहित्य का अंग बनकर नाना देशों के निवासियों का भी मनोरंजन करती हैं। भारतीय कथा की विदेशयात्रा की यह रामकहानी बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है। फारस (इरान) के प्रसिद्ध सम्राट खुसरो नौशेरवाँ (531ई.-579 ई.) के राज्यकाल में पंचतंत्र की कहानियाँ पहलवी भाषा (पुरानी) में प्रथमत: 533 ई. में अनुदित की गई। अनुवादक का नाम था हकीम बुरजोई। प्रथम तंत्र के शृंगालबंधुओं –करटक और दमनक –के नाम पर यह अनुवाद कलेलाह-व-दिमनाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 560 ई. में बुद नामक एक ईसाई संत ने इस पहलवी अनुवाद को सीरियाई भाषा में रूपांतरित किया। 750 ई. में सीरियाई से अरबी अनुवाद करने का श्रेय प्राप्त है। अब्दुल्ला-बिन-अलमुकफ्फा को, जो स्वयं तो मुसलमान था, परंतु जिसका पिता पारसी था। इस अनुवाद के भी अनेक अनुवाद लैटिन, ग्रीक, स्पेनिश, इतालीय, जर्मन तथा अंग्रेजी भाषाओं में भिन्न-भिन्न शताब्दियों में होते रहे और इस प्रकार ये कहानियाँ 16वीं

शती से पूर्व ही यूरोप के विभिन्न देशों में घर कर गई। उन देशों के निवासियों को इनके भारतीय होने का तनिक भी भान नहीं था। ये विदापई की कहानियों के नाम से सर्वत्र विख्यात हो गई। यूनान के प्रख्यात कथासंग्रह ईसप फेबुल तथा अरब की मनोरंजक कहानियों (अलिफलैला) की आधारभूत ये ही भारतीय कथाएँ हैं। यूरोप तथा अरब के निवासी इन्हें अपने साहित्य की निधि मानते थे। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि भगवान बुद्ध ईसाई संतों की श्रेणी में विराजने लगे। यूरोप के मध्ययुग की एक विख्यात कहानी थी –बरलाम और जोजेफ की कहानी, जिसमें जोजेफ ने अपने उपदेशों से बरलाम नामक राजा को ईसाई मत में दीक्षित कर लिया। इसमें जोजेफ नाम बुदसफ के रूप में बोधिसत्व का ही अपभ्रंश है और जोजेफ स्वयं बुद्ध ही है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इन्हीं कहानियों की कृपा से बुद्ध अपने से विरोधी धर्म के मान्य संत के रूप में ईसाई धर्म में गृहीत हैं।

यह तो हुई मध्ययुग में भारतीय कथाओं की पश्चिमी देश की यात्रा। इससे भी पहले सुदूर प्राचीन काल में भी हिब्रू (यहूदी) लोगों को इन कहानियों का परिचय मिल चुका था। सुलेमान का न्याय (सालोमंस जजमेंट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भी भारतीय है। बाइबिल की अनेक कथाएँ मूलत: भारतीय हैं। प्रसिद्ध यूनानी सम्राट् सिकंदर के विषय की वह लोकप्रिय कहानी भी भारतीय ही है जिसमें उसकी माता के तीव्र पुत्रशोक को कम करने के लिए किसी तत्त्ववेत्ता ने ऐसे घर से सरसों की खोज में निराश होने पर ही उस वृद्धा को देह की नश्वरता की व्यावहारिक शिक्षा मिली थी। यह कथा भी भगवान बुद्ध द्वारा किसा गोतमी (कृशा गौतमी) को दिए गए उपदेश को प्रतिध्वनित करती है। इतना ही नहीं, छठी शती से पूर्व ही ये भारतीय कथाएँ चीन देश के दो अत्यंत प्राचीन विश्वकोशों में अनुदित की गई उपलब्ध होती हैं। फलत: समस्त सभ्य संसार के लोग प्राचीन तथा मध्ययुग में इन भारतीय कहानियों से आनंद उठाते थे और अपने जीवन को सुखमय बनाते थे। मध्ययुग का एक प्रख्यात कथा-चक्र था जो इटली देश के कवि पेत्रार्क के विश्वविश्रुत कथा ग्रंथ डेकामेराँ में आज भी सुरक्षित है। आलोचकों से यह बात परोक्ष नहीं है कि शेक्सपियर के अनेक नाटकों की कथावस्तु इसी रोचक ग्रंथ से गृहीत है। डेकामेराँ की अधिकांश कहानियाँ भारतवर्ष की कहानियों का किंचित् परिवर्धित तथा परिवर्तित रूप हैं। शकुसप्तति की कहानियाँ भी फारस में बहुत

ही प्रख्यात और लोकप्रिय थीं। 1329-30 में हाफिज और सादी के समकालीन एक लेखक ने तूतीनामा के नाम से फारसी में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका तुर्की भाषा में अनुवाद सौ वर्ष के भीतर ही किया गया। 18वीं शती में कादिरी नामक लेखक ने इसका नया अनुवाद तैयार किया। इस फारसी अनुवाद की बहुत सी कहानियाँ यूरोप में फैल गई। जर्मनी के प्रसिद्ध प्राच्यविद् डॉ. थिओडोर बेनफी ने बड़े अध्यवसाय से भारतीय कहानियों की इस यात्रा का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया है। फलतः विश्वसाहित्य को भारतवर्ष की देनों में कथाओं की देन बड़ी ही व्यापक, रोचक तथा लोकप्रिय है।

5

लोकगाथा

लोकगाथात्मक लोक काव्य है। जिस प्रकार आल्हा में वीर रस की प्रधानता पाई जाती है, उसी प्रकार इस गाथा में भी वीर रस की धारा प्रवाहित होती है। 'विजयमल' की गाथा 'कुँवर विजयमल' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह कहना कठिन है, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि किसी सत्य घटना को लेकर ही इस लोकगाथा के रचना की गयी है।

संक्षिप्त कथा

'विजयमल' की कथा संक्षेप में इस प्रकार है–

'विजयमल' का जन्म रोहीदस गढ़ (रोहतासगढ़) नामक स्थान पर हुआ था। उसके दादा का नाम बुद्धूमल और पिता का नाम धीड़मल सिंह था। इसकी माता मैनावती वीर क्षत्राणी थी। विजयमल का भाई हिरवा तथा भावज सोभामती थी। जब विजयमल युवावस्था को प्राप्त हुआ, तब इसका विवाह बावन गढ़ के राजा बावनसूबा की लड़की तिलकी से होना निश्चित हुआ, परंतु विवाह के लिए जब बारात बावन गढ़ पहुँची, तब वहाँ के राजा ने किसी कारण से रुष्ट होकर सभी बारातियों को जेलखाने में बन्द करवा दिया। कुँवर विजयमल किसी प्रकार से बचकर अपने देश को चला आया। यह बड़ा ही वीर और पराक्रमी व्यक्ति था। इसने बावन गढ़ के राजा से अपमान का बदला चुकाने के लिए बहुत बड़ी

सेना एकत्र की और उस पर आक्रमण कर दिया। बावन गढ़ के राजकुमार का नाम मानिक चन्द था, जो बड़ा वीर तथा युद्ध कुशल था। बावन गढ़ में कुँवर विजयमल और मानिक चन्द का बड़ा ही घनघोर युद्ध हुआ। सैरोघाटन नामक स्थान पर भी इनमें संघर्ष हुआ, जिसमें कुँवर विजयमल की मृत्यु हो गयी, परंतु देवी के आशीर्वाद से उसे पुनः जीवन प्राप्त हो गया और अंत में युद्ध में इसकी विजय हुई। तिलकी से विवाह के पश्चात् कुँवर विजयमल के चार पुत्र उत्पन्न हुए। वह सपरिवार आनन्द से राजसुख को भोगता हुआ अपने दिन बिताने लगा।'

प्रचलित क्षेत्र

कुँवर विजयमल की गाथा में 'मैना' और 'गोबिना' नामक दो प्रेमियों की कथा भी सम्मिलित है, परंतु इसका आधिकारिक कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। विजयमल की गाथा भोजपुरी प्रदेश में बहुत प्रचलित है। यह वीर रस से ओत-प्रोत है। जब गवैये इसे लयपूर्वक गाने लगते हैं, तब श्रोताओं की एक अच्छी खासी भीड़ एकत्र हो जाती है।

संकलन तथा अनुवाद

ग्रियर्सन ने 'बंगाल एशियाटिक सोसायटी' की पत्रिका में 'विजयमल' के गीत के संकलन तथा सम्पादन के अतिरिक्त इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। आजकल वर्तमान लोक कवियों के द्वारा लिखी 'कुँवर विजयमल' के गीत की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आरा जिला निवासी महादेव प्रसाद सिंह की लिखी पुस्तक प्रसिद्ध है।

लोकगाथा या कथात्मक गीत, अंग्रेजी में बैलेड' (Ballad) शब्द से अभिहित हैं। इस की व्युत्पत्ति लैटिन के वेप्लेर' शब्द से है जिसका अर्थ है 'नृत्य करना'। कालांतर में इसका प्रयोग केवल लोकगाथाओं के लिए किया जाने लगा। अंग्रेजी साहित्यकार इसकी ओर अधिक आकृष्ट हुए और यह अंग्रेजी साहित्य का लोकप्रिय काव्यरूप ही बन गया।

लोकगाथा की परिभाषा करते हुए विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए हैं। किंतु परिभाषाओं में कुछ सर्वसामान्य तत्त्व विद्यमान हैं। इस विषय में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार ये हैं–

जी.एन. किटरेज ने लोकगाथा को कथात्मक गीत अथवा गीतकथा कहा है। फ्रैंक सिजविक लोकगाथा को सरल वर्णनात्मक गीत मानते हैं जो

लोकमात्र की संपत्ति होती है और जिसका प्रसार मौखिक रूप से होता है। प्रो.एफ.बी. गुमेर ने इनकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार लोकगाथा गाने के लिए लिखी गई ऐसी कविता है जो सामग्री की दृष्टि से प्रायः व्यक्तिशून्य रहती है और संभवतः उद्‌भव की दृष्टि से सामुदायिक नृत्यों से संबद्ध रहती है पर इसमें मौखिक परंपरा ही प्रधान है। डा. मेर लोकगाथा को छोटे छोटे पदों में रची कविता मानते हैं जिसमें कोई लोकप्रिय कथा विस्तार से कही गई हो। लूसी पौंड लोकगाथा को एक साधारण कथात्मक गीत मानते और इसकी उत्पत्ति को संदिग्ध बताते हैं।

तात्पर्य यह कि लोकगाथाओं में गीतात्मकता अनिवार्य तत्त्व हैं। कथानक प्रभावशाली और विस्तृत होता है। पर वह व्यक्तित्त्वविहीन होती हैं अर्थात् उनके रचयिताओं का पता नहीं होता। ये समाज के किसी वर्ग और व्यक्ति विशेष से संबद्ध नहीं हैं अपितु, संपूर्ण समाज की धरोहर हैं। इनका उद्‌भव जनसाधारण की मौखिक परंपरा से होता है। काव्यकला के सौंदर्य गुणों का इनमें अभाव रहता है।

लोक-गाथा सम्पूर्ण लोक जीवन की सरल, सहज गद्य-पद्यबद्ध सामूहिक गेय अभिव्यक्ति होती है। लोकगाथा में जन-जीवन की सभी अनुभूतियों सुखद-दुःखद, हर्ष-विषाद, उमंग-उत्साह, हास-परिहास, आशा-आकांक्षा, भय-आश्चर्य, वीर-करुण, आशा-निराशा आदि भावों का सम्मिश्रण होता है। लोकगाथा लोकसाहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है लोक साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा इसमें लोक-सभ्यता और लौकिक संस्कृति का सम्पूर्ण, संजीव और सम्यक चित्र खींचा जाता है, इतना ही नहीं लोकगाथाएं प्रदेश विशेष, काल विशेष, जाति विशेष के समसामयिक आचार-विचार, स्थिति-परिस्थिति, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी पक्षों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करती हैं। लोक जीवन में लोक-गाथाओं की मौखिक गद्य-पद्य गेय रूप की सुदीर्घ परंपरा आरंभ से ही चली आ रही है। 'पद्य' तथा 'गीत' के अर्थ में 'गाथा' शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' के अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में गाथाओं का विशेष उल्लेख मिलता है। संस्कृत साहित्य में 'गाथा' शब्द का प्रयोग गेय पदावली के अर्थ में प्राचीनकाल से ही होता रहा है। राजा-हाल की 'गाथा' सप्तशती इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

लोक-गाथा शब्द 'लोक्गाथा' अर्थात् लोक द्वारा, लोक की वाणी से स्वानुभूत गायी जाने वाली गाथाओं से ही लोकगाथा के लिए पहले पँवारा,

पँवाड़ा ग्राम्य गीत, नृत्यगीत, आख्यानक-गीत, वीर-गाथा, वीर काव्य, वीर-गीत, प्रबन्धात्मक गीत, काव्य आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता था लेकिन अब अंग्रेजी शब्द 'बैलेड' रूढ एवं सर्वमान्य हो गया है। प्रोफेसर कीटिज ने ''बैलेड'' को ऐसा गीत बताया है जिसमें कोई कथा कही गयी हो गीतों के माध्यम से। ''लोकगाथा दीर्घ कथानक प्रधान सरल, सहृदय, वर्णनात्मक गीत है जो लोक के सामूहिक प्रयासों की अमूल्य धरोहर है। जिसका प्रसार मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता है।''

मनुष्य शुभ अवसरों, विभिन्न त्योहारों पर अपनी खुशी, उमंग उत्साह, को उद्घाटित करने के लिए लोकगाथाओं को गाकर सुनाता है। लोकगाथा में किसी न किसी महान् चरित्र, आदर्श राजा के अच्छे कर्म धार्मिक ऐतिहासिक इतिवृत्त आदि से संबंधित कथानक को लोकगीत, लोकभाषा, लोकवाद्य और लोकनृत्य के माध्यम से लोक समाज में जनता द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। महानायक के आदर्शों, कर्त्तव्यनिष्ठा, वचनबद्धता और सद्गुणों को लोकमानस में जाग्रत करना या, प्रवाहित करना ही लोकगाथा का उद्देश्य है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय जी ने स्वयं कहा है - ''परम्परागत रूप से चला आ रहा यह साहित्य जब तक मौखिक रहता है तभी तक इसमें ताजगी तथा जीवन पाया जाता है। लिपि की कारा में कैद करते ही उसकी संजीवनी शक्ति नष्ट हो जाती है।''1

लोकगाथाओं में वीर और महान् नायक एवं कोई न कोई ऐतिहासिक, सामाजिक, रहस्यपूर्ण, रोमांचक या वीर रस प्रधान कथानक की ही प्रधानता होती है। साथ ही इनमें गेयता भी होती है, किंतु गौण रूप में, कथानक को गति और लय में आगे बढाने हेतु सहायक रूप में। लोकगाथाओं के अधिकांश कथानक पौराणिक धर्मग्रन्थों, ऐतिहासिक इतिवृत्त और ऐतिहासिक पात्रों से सम्बन्धित होते हैं। लोकगाथाओं के पीछे किसी न किसी समूह जाति की आस्था, लोक-मान्यता, लोक-विश्वास की आधारशिला होती है। लोकगाथा में गाये जाने वाले प्रबन्धात्मक गीत में सामुदायिक एवं जातीय जीवन के किसी विशेष पहलू या मार्मिक वृतान्त को उद्घाटित कर, लोक को तत्कालीन समूह, समाज की सामाजिक और साँस्कृतिक व्यवस्था, रीति-रिवाज परम्पराओं से भी अवगत कराया जाता है। इन लोकगाथाओं में भारतीय संस्कृति सभ्यता और इतिहास सुरक्षित है।

लोकगाथा में नायक के सर्वगुणसम्पन्न व्यक्तित्त्व के साथ उसका सम्पूर्ण जीवनवृत्त तथा उसके जीवन की प्रत्येक घटनाओं को कथा और लोकगीत, लोकवाद्य आदि के द्वारा बड़ी ही रोचक सरल व सरस रूप में मौखिक परंपरा

में समूह द्वारा प्रस्तुत की जाती है। लोकगाथा में लोकजीवन के साथ लोक व्यवहार, परपंरा, प्रथाएँ, रीति-रिवाजों और जीवन के विभिन्न रंगों और भावों की झाँकी देखने को मिलती है। जैसे प्रेम, साहस, भय, विस्मय, शौर्य आदि। लोक-गाथाओं का प्रधान रस वीर और अन्य करुण, शृंगार, भक्ति, निर्वेद आदि अन्य रसों का परिपाक भी होता है।

लोकगाथा में गीत, संगीत और नृत्य का अद्‌भुत समन्वय होता है। बिना संगीत के गाथा सुनने में नीरसता और झुँझलाहट होती है और आनंद भी नहीं आता और संगीत के साथ-साथ लोकगाथा गाते समय उमंग से भक्ति में झूमते हुए नृत्य भी किया जाता है। लोकगाथा में लोकवाद्य-ढोल, चंग, नगाड़े आदि का प्रयोग करते हुए लोकगाथाएँ गाने से ये अधिक प्रभावशाली छाप छोड़ती है जनमानस पर और भाव-विभोर कर नाचने पर मजबूर कर देती है। लोकगाथा में तो संगीत, नृत्य और गीत की त्रिवेणी बहती है। लोकवाद्य का प्रयोग कर लोकगाथा के अनुरूप गति, भावावेश आदि से जनसाधारण को नायक-नायिका और अन्य चरित्र पात्रों के मनोभावों से रूबरू करवाया जाता है।

लोक गाथाओं में स्थानीयता अर्थात् प्रादेशिकता का, आस-पास के परिवेश का भी स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है चाहे कथानक कोई भी महापुरुष, महाराजा, चरित्र का वर्णित हो, स्थानीय रंगत की झलक के साथ ही उस प्रदेश विशेष के रहन-सहन, भाषा-बोली, रीति-नीति, प्रथा-परंपरा, खान-पान, आचार-व्यवहार आदि का सजीव चित्रण लोकगीतों व लोकनृत्यों के माध्यम से प्रत्यक्ष हो उठता है। साथ ही उसमें ऐतिहासिक इतिवृत्तों घटनाओं और सामाजिक सांस्कृतिक प्रथाओं का भी उल्लेख होता है। प्रदेश विशेष की भौगोलिकता, मौसम, तापमान दुर्गम स्थितियों का भी अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे- 'ढोला मारू रा दूहा में मारवणी के ऊँट की सवारी से मारवाड़ में यातायात का साधन ऊँट है। पर्वतीय जिलों में प्रायः सर्दी अधिक होने के कारण वहाँ के निवासी गर्मी नहीं सहन कर पाते। इसी कारण पर्वतीय क्षेत्र की एक लड़की अपने पिता से कहती है कि आप मेरा विवाह 'छाना बिलोरी' नामक स्थान पर जहाँ गर्मी अधिक पड़ती है मत करना क्योंकि वहाँ की गर्मी से पसीने के मारे मैं परेशान हो जाऊँगी आदि से ज्ञात होता है कि लोकगाथाओं में क्षेत्र विशेष की स्थानीय रंगत, प्रादेशिक संस्कृति और परिवेश का भी सम्पूर्ण व स्पष्ट प्रतिनिधित्व करती है। लोकगाथाओं में हमें मातृभक्ति, मातृभूमि-प्रेम, शौर्य, साहस, प्रेम के अनेक प्रसंग देखने को मिलते हैं जिनसे उपदेश सीख ली जा सकती है।

'कुसमा देवी' और 'भगवती देवी' के गीतों से उनके अलौकिक सतीत्व और आदर्श आचरण की शिक्षा मिलती है। राजस्थानी लोकगाथाओं में राजस्थानी जनजीवन धर्म, दर्शन, उत्स-परपंरा, भक्ति और नीति, कला और संस्कृति का जीवन्त और प्रभावशाली चित्रण मिलता है। राजस्थानी लोकगाथाओं में नायक सभी आदर्शों और नैतिक मूल्यों को स्थापित कर लोकजीवन में नैतिकता व सद्चरित्रता का आदर्श प्रस्तुत करता है। नायक सर्वगुण सम्पन्न होता है नायक जितने उदार, विनम्र और चरित्रवान होते हैं, उतने ही पराक्रमी, दृढनिश्चयी और वीर भी। ऐसे वीर नायकों में प्रतापी राजा पृथ्वीराज, पाबूजी, तेजाजी, गोगाजी, रामदेवजी, बगड़ावत जी, सुल्तान आदि हैं। इनकी वीरता, उदारता एवं अलौकिक अद्भुत शक्ति और गुणों के कारण ही लोग इन्हें श्रद्धा और सम्मान से पूजते हैं।

लोकगाथाओं में ऐतिहासिकता के साथ ही साँस्कृतिक विरासत के भी तत्त्व मिलते हैं किंतु इनमें ऐतिहासिकता तो नाम मात्र हेतु और कल्पना का पुट सर्वाधिक होता है केवल कथा को ऐतिहासिक कलेवर प्रदान किया जाता है। मुख्य कार्य तो किसी वीर एवं धर्मरक्षक सर्वगुण सम्पन्न नायक की प्रशस्ति गौरवगाथा का वर्णन करना ही होता है जैसे निहालदे-सुल्तान राजा हरिश्चन्द्र, राजाकर्ण पाबूजी आदि की लोकगाथाएँ प्रमुख हैं।

लोक गाथा में राजा हरिश्चन्द्र के सत्य, दृढता, दानवीरता और उनकी धर्मवीरता को लोकगाथा के माध्यम से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

इक राजा हरिशचन्दर भये
नाम अपनो अमर कर गये
दीन-दुखिन नित भोजन देयँ
भिच्छा साधू सन्तन को देयँ।

राजा हरिश्चन्द्र कर्मवीर और कर्त्तव्यनिष्ठ है और इन्होंने अपने कर्त्तव्य पालन हेतु अपने स्वयं के पुत्र के दाह संस्कार हेतु अपनी पत्नी रानी शैव्या से शव 'कर' के रूप में रानी शैव्या की आधी साड़ी फड़वा ली। इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र की कर्त्तव्यपरायणता की लोकगाथा आज भी प्रांसगिक है। वर्तमान युग में मनुष्य में झूठ, फरेब और धोखेबाजी, लूट-खसोट जैसे अनेक दुर्गुण हैं। ऐसे में राजा हरिश्चन्द गाथा सत्यनिष्ठ और कर्त्तव्यपरायणता, दीन-दुखियों की सेवा भावना की सीख जनसामान्य को मिलती है।

राजा मोरध्वज की गाथा 'दानवीरता' से संबंधित है और इसमें सत्य और धर्म निष्ठा राजा रानी अतिथि को देवो भव मानकर उस पंक्ति की सार्थकता सिद्ध

करते हुए अपने इकलौते पुत्र को काटकर अतिथियों के शेर के समक्ष डालकर अपने आतिथ्य सत्कार का आदर्श प्रस्तुत करते हैं–

''सीढिन सीढिन रानी जाय
सतखण्डा पै पहुँची जाय
सोबत बालक लये जगाय
उढो पुत्र कर लेओ असनान
पिता तुम्हारे दइदै दान''

राजा कर्ण की लोकगाथा भी उनकी दानशीलता और परोपकार सेवा भावना आदि को अभिव्यक्त करती है। वर्तमान आधुनिक युग में व्यक्तिवादिता, स्वार्थपरता के तहत नैतिक और सामाजिक मूल्यों में निरन्तर गिरावट आ रही है आज लोग वैश्वीकरण की इस भागदौड़ भरी जिन्दगी में अपने रिश्ते नातों को, सम्बन्धों को धीरे-धीरे भूलकर केवल अपने बारे में सोचते हैं इतना ही नहीं अपने माता-पिता को भी घर से बाहर निकाल देते हैं या वृद्धाश्रम छोड़ आते हैं। ये भारतीय सभ्यता-संस्कृति नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृति समाज में तो 'श्रवणकुमार' जैसे आज्ञाकारी सुपुत्र है जो अपने माता-पिता की सेवा में अपना पूरा जीवन समर्पित कर देते हैं। सरबन (श्रवणकुमार) की लोक गाथा में श्रवणकुमार की मातृ-पितृ भक्ति, सेवा-भावना, कर्मवीरता का आदर्श स्थापित किया हैं। अतः आज के इस अतिवादी भौतिकवादी युग में पुनः प्राचीन मूल्यों, नैतिकता की स्थापना करने एवं युवा-पीढी को पुनः अपनी माता-पिता की सेवा आदर और सम्मान और बड़े बुजुर्गों, रिश्ते-नातों की समझ और नैतिक आचार हेतु प्रेरित करने में ये लोक गाथाएँ काफी सार्थक हैं। आज के कलयुग के पुत्र और सतयुग के श्रवणकुमार जैसे आज्ञाकारी पुत्र दोनों छवि को लोक कवि ने इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है। यथा–

सतजुग बालक ऐसे धये
माता-पिता काँउर भरैं
अब कलजुगिया ऐसे होयँ
लेय मेहरूआ न्यारे होयँ।

इन लोकगाथाओं में किसी न किसी जाति, समूह की आस्था, लोक-विश्वास, शकुन अपशकुन, टोने-टोटके, नियम-कानून एवं सामाजिक व्यवस्था के भी दर्शन होते हैं। लोक गाथाएँ लोक संस्कृति और समाज का जीता-जागता खजाना है। इनमें अतीत, वर्तमान और भविष्य से संबंधित लोक

मान्यताएँ, लोक विश्वास, लोक परंपराएं टोने-टोटके, शकुन-अपशकुन आदि संचित और सुरक्षित रहते हैं। लोक गाथाओं के कथानक विविधतापूर्ण होते हैं। कथ्य के अनुरूप लोकगाथाएँ- वीरगाथात्मक, प्रेम गाथात्मक, रोमांचक, पौराणिक, निवेदात्मक लोकगाथाएँ आदि होती हैं। वीरगाथात्मक लोकगाथाओं में किसी वीर, महान पुरुष या नायक के शौर्य, पराक्रम, साहस, वीरता, धर्मपरायणता आदि सद्‌गुणों को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इनमें कर्मवीरता, धर्मवीरता, दानवीरता और युद्ध वीरता आदि प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र और राजा मोरध्वज की लोकगाथाएँ दानवीरता और धर्मवीरता पाबूजी, बगडावत, तेजाजी, देवानारायण जी, आल्हा आदि युद्धवीर तत्त्व प्रधान लोकगाथाएँ हैं। इनमें वीररस प्रधान होता है। ये वीरत्व व्यंजक लोकगाथाएँ जनमानस को परोपकार, सेवा-भावना, वचनपालना, कर्त्तव्यनिष्ठा की सीख देती है।

वर्तमान की भाग दौड़ भरी जिन्दगी में प्रतिस्पर्धी युग में जहाँ मनुष्य-मनुष्य का शत्रु बन रहा है और अपने स्वार्थ के लिए वह किसी भी हद तक जा सकता है। सही गलत आदि भी भेद न कर अपने निजी हित में लगा है। नैतिक और सामाजिक मूल्यों का पतन हो रहा है। ऐसे में ये लोकगाथाएँ मानव वैयक्तिक और निजी हित की अपेक्षा सामाजिक हित, सर्वकल्याण, एकता, परोपकार सौहार्द कायम करने की प्रेरणा और साहस देती है। मानव को मानव से जोड़ने और नैतिक और सामाजिक मूल्यों और संस्कारों की पुनःस्थापना में लोक गाथाएँ काफी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं।

ढोला, आल्हा, महादेव को ब्याहुलौ, जगदेव का पंवार आदि भक्ति और प्रेम प्रधान आख्यानक है। इनमें शृंगार रस प्रधान एवं अन्य करुण रौद्र वीर रसों का भी परिपाक हुआ है। वीरगाथात्मक लोकगाथाओं में भी प्रेम ही वीर के आलम्बन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। राजस्थान में सामाजिक अनुशासन की कठोरता रूढिवादी परपंरा और प्रथाओं के कारण प्रेम गाथाओं को उतना अधिक महत्व नहीं दिया गया है फिर भी कुछ प्रमुख प्रेमकथात्मक गाथाएँ हैं जिनमें 'ढोला-मारू' प्रमुख है। इसमें नायक नायिका सहज और सात्विक प्रेम का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

वहीं आज के भौतिकवादी प्रतिस्पर्धी युग में मनुष्य एकांकी और एकल परिवार में रहना पसंद करता है और समाज, सामाजिक रिश्ते-नाते सबंधों से कट रहा है वहीं कौटुम्बिक लोकगाथाएं मनुष्य को परिवार के लोगों के आपसी प्रेम,

सौहार्द, आपसी, समझ, रिश्ते-नाते, पारवारिक सहयोग के आदर्श की झांकी गाथा के माध्यम से प्रस्तुत कर संयुक्त परिवार व सम्बन्धों को निभाने, मिलजुल कर एकता से रहने की प्रेरणा देते हैं। भाई-बहन के शुद्ध पवित्र प्रेम की भी आदर्श झलक इन लोकगाथाओं में देखने को मिलती है वहीं दूसरी तरफ सास और बहू के विषम संबंधों का चित्रण राजस्थानी लोकगाथा 'पपइयों' में मिलता है।

रोमांचक, अलौकिक लोक गाथाओं द्वारा अलौकिक अमानवीय अप्राकृतिक अद्‌भुत सत्ता या देवी-देवता की, परियों के माध्यम से सत्य का साथ देने पर मनुष्य को अनुचित कार्य करने से रोका जाता था। आज भी मनुष्य धन और भौतिक सुख सुविधाओं के लालच में सही-गलत में भेद करना भूल गया है अतः ये अलौकिक लोकगाथाएं आज भी उतनी ही प्रासंगिक और सार्थक हैं।

इन लोकगाथाओं के द्वारा मनुष्य में पुनः नैतिकता जगाने, उसके अंर्तमन को शुद्ध करने और साथ ही अलौकिक सत्ता के कोप और अच्छा कर्म करने पर ईश्वर मनुष्य का साथ देता है। यह भावना विकसित करने, पुराने आदर्श मूल्यों से रूबरू कराने हेतु ये लोकगाथाएँ आज भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी पहले थी। ऐतिहासिक गाथाएँ पात्रों चरित्रों के आदर्शों, उनकी कर्त्तव्य-परायणता, शौर्य की गाथा सुनाकर आज लोगों को भी अपने कर्त्तव्य-न्याय को प्राथमिकता देने, समाज में अनेक विकृतियों जैसे स्त्री शोषण, उसका उत्पीड़न मानव चरित्र की निर्बलता आदि को दूर कर उनमें बाहु चरित्र और आदर्शवान बनाने, नैतिक मूल्य, सद्‌गुणों आदि को विकसित करने और मानवीय भाव उत्पन्न करने में ये लोक गाथाएँ काफी कारगर सिद्ध हो सकती हैं।

पौराणिक चरित्रों के आधार पर इन गाथाओं के माध्यम से प्रेम के निश्छल और शुद्ध आदर्श रूप को पुनः स्थापित करने तथा आज के युवा पीढी को आदर्श प्रेम और अकृत्रिम प्रेम का ज्ञान कराकर दिशा भटकने से रोका जा सके। आदर्श और पवित्र प्रेम का पाठ पढ़ाने में लोक गाथाएँ काफी हद तक सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

''आल्हा'' वीररस से ओत-प्रोत एक ऐतिहासिक और प्रेमाख्यान लोकगाथा है। इसमें आल्हा, ऊदल और मलिखान जैसे वीर योद्धा के पराक्रम, शौर्य और वीरता के साथ बावन लड़ाइयों का व अत्याचार के विरुद्ध लड़ने सत्य का साथ देकर शोषित पीड़ित जनता की सहायता कर परोपकार व परसेवा उपकार के आदर्श प्रस्तुत करते हैं। ये वीर पराक्रमी नायक अपने वचनपालन व परोपकार हेतु अपने सपनों का त्याग कर अपने प्राण तक न्यौछावर कर देते हैं। सामाजिक

कल्याण और सामाजिक हित को निजी हित से ऊपर रखते हैं वहीं आज निजी स्वार्थ और धन लोलुपता आदि के कारण मानव-मूल्य एवं चरित्र का पतन हो रहा है। अत: आज नई पीढी को इस प्रतिस्पर्धी युग में मिलजुल कर रहने, मानव को मानव से जोड़ने और परस्पर एकता और सहयोग को कायम करने की प्रेरणा एवं शिक्षा देने में ये लोकगाथाएँ काफी हद तक सार्थक हैं।

कृष्ण-सुदामा की पौराणिक लोकगाथा भी वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता रखती है। आज वैश्वीकरण के युग में व्यस्तता के कारण मनुष्य के पास अपने लिए ही वक्त नहीं है। आत्म केन्द्रित और व्यक्तिवादिता हर जगह व्याप्त है। ऐसे में कृष्ण-सुदामा की बाल मैत्री तथा कालांतर में श्रीकृष्ण द्वारा सुदामा की सहायता करने की कथा गाने-सुनने से व्यक्ति की दरिद्रता दूर हो जाती है, ऐसी लोकमान्यता है। जिसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है–

कृष्ण-सुदामा दोनों पढने को निकले
बाँधे कृष्ण कल्योवा हो राम॥
धीरे धीरे खोली गठरिया सुदामा
मूँठी भर चना फाँके हो राम॥
छोटे कन्हैया बड़े हैं सुदामा
छोटे का हिस्सा उन खाया हो राम॥

निवृत्तिमूलक एवं भक्तिमूलक लोकगाथाओं में राजा भरथरी, गोपीचन्द, गुरु गुग्गा की गाथाएँ प्रमुख हैं। इन लोक गाथाओं में नायक धन, ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं किंतु गुरु की अलौकिक शक्तियों और ज्ञान योग से प्रभावित होकर सुख ऐश्वर्य और सपनों को त्याग कर गुरु भक्ति को अपना कर वैरागी बन जाते हैं। जनसामान्य के सुख-दुख को अपना समझकर उन्हें दूर करने और लोकल्याण को अपना परम धर्म मानकर सांसारिक सुखों को त्यागकर अपना सम्पूर्ण जीवन जन सेवा हेतु समर्पित कर देते हैं। अपने गुरु की आज्ञा से भक्ति और तपस्या तथा गुरु की अलौकिक शक्ति साधना से प्रभावित, भर्तहरि गुरु गोरखनाथ से कहते हैं–

''गुरुजी म्हारा मिरग जीवत कर दो, चेलो बिण जासूं
दुखियाँ रा आधार सतगुरु चेलो बिण जासू जी।''

गोपीचन्द और राजा भरथरी की लोक गाथा निर्वेदभाव एवं शान्त रस प्रधान है। गोपीचन्द और भरथरी के पंवारों में अद्‌भुत अलौकिक तत्त्वों, अति प्राकृतिक, रहस्यपूर्ण देवी-देवताओं भूत प्रेत, परी, अप्सरा जैसी आलौकिक शक्तियाँ

लोक-विश्वास के अनुरूप सच्चे और धर्मपरायण मनुष्य की सहायता करते हैं। गुरु गोरखनाथ की कृपा, आशीर्वाद से ही भरथरी अनेक चमत्कार करने के साथ ही कठिनाइयों पर विजय हासिल करते हुए सोरठी तथा अन्य राजकुमारियों से विवाह करते हैं।

गोपीचन्द गाथा में माता की आज्ञा को मानकर गोपीचन्द सांसरिक सुखों को त्यागकर वैराग्य ग्रहण कर जोगी बन जाते हैं। ये गाथाएँ जनता में धन संपत्ति, ऐश्वर्य और भौतिक सुखों के मोह को, दूर करने और माया-मोह से परे एक अलौकिक आनंद प्राप्त करने का मंत्र फूंकती हैं और यह गाथाएँ यह सीख देती है कि धन, वैभव ऐश्वर्य आदि के प्रति आसक्ति जीवन को उन्नत नहीं बना सकती अपितु मनुष्य के कर्म, उसका आचरण उसके जीवन को सफल बनाता है।

आज झूठ, फरेब, लूट, धोखेबाजी, साम्प्रदायिक-वैमनस्य भरे वातावरण में ये लोकगाथाएँ हमें सत्य, आपसी प्रेम-भाईचारे, धर्म-नैतिकता की सीख देने के साथ ही युग चेतना के स्वर किसी न किसी रूप में उद्घाटित कर युगीन परिस्थितियों कटु सत्यों, आदर्श नैतिक मूल्य आदि को भी हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं।

जाहरपीर या गुग्गा गुरु की लोकगाथा नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के साथ ही हिन्दू मुस्लिम एकता का आदर्श प्रस्तुत कर धार्मिक सद्भाव और परस्पर प्रेम व एकता का संदेश देती है। लोकगाथाओं के नायक-नायिकाओं में लोक मानव की क्रियाकलाप, हावभाव और विचारों की भी झलक देखने को मिलती है।

प्राचीन लोगों के जीवन यापन शैली आचार-विचार, व्यवहार, लोक-विश्वास, मान्यता आदि को समझने उनमें आज की लोकसंस्कृति एवं समाज में जो परिवर्तन व विकास हुआ है, उन्हें समझने में भी काफी सहायक है। आज हमें नैतिक और आदर्श आचरण, संयमित जीवन जीने की कला सीखने के लिए इन लोकगाथाओं से प्रेरणा और अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है। लोकगाथाओं में लोक व्यवहार के साथ-साथ, बोली, भाषा, क्षेत्रीय-रंगत एवं लोक की सम्पूर्णता छिपी रहती है। ये लोक गाथाएँ हमें केवल एक क्षेत्र विशेष एवं वर्ग-विशेष की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज और लोकचेतना का दिग्दर्शन कराती है। इनसे लोक जीवन के अमूल्य सूत्रों की धरोहर प्राप्त होती है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से लोकगाथा में समाज का समग्र चित्र प्रत्यक्ष हो उठता है। समाज का कोई भी पक्ष इससे अछूता नहीं है।

लोकगाथाओं में सदैव सत्य, न्याय और धर्म की जीत दिखायी जाती है करुणा, प्रेम, दान, परोपकार, दया, समर्पण, त्याग आदि भावों का मानव समाज में प्रसार करने में लोकगाथाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लोकगाथाएं मनोरंजन और ज्ञानवृद्धि करने के साथ-साथ इनका सामाजिक और साँस्कृतिक, धार्मिक महत्व भी होता है। क्योंकि इनमें प्रायः अलौकिक देवी-देवताओं की, लोक-देवता के ही जीवन चरित्र और गुणों-कार्यों को गाकर जन-जन को आनंद, उत्साह से भरने के साथ ही मनुष्य को जाति-धर्म और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सदाचार और नैतिकता, ईमानदारी का पाठ पढाती हैं। सामाजिक मूल्यों के पतन को रोकने एवं पुनः मूल्यों और सामाजिक आदर्शों की स्थापना एवं संरक्षण हेतु लोक-गाथाएँ अनमोल विरासत है। इनमें निहित महान् उद्देश्य, सीख को अपनाकर हम जन-जीवन को सुखी और सम्पन्न बना सकते हैं।

लोकगाथा का अर्थ

लोकगाथा शब्द अंग्रेजी शब्द 'बैलेड' का समानार्थी है। 'बैलेड' के लिए हिंदी में ग्रामगीत, नृत्यगीत, आख्यान गीत, वीरगाथा, वीर गीत, वीर काव्य आदि कई शब्दों में से कोई भी शब्द इसके के अर्थ को ठीक तरह व्यक्त नहीं करता है। इन्साक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका के अनुसार इंग्लैंड में 'बैलेड' उस काव्य का नाम है, जिसमें सीधे-सादे छंदों में कोई सीधी सरल कथा कही गयी हो। विभिन्न विद्वानों ने अंग्रेजी शब्द 'बैलेड' के विभिन्न अर्थों एवं प्रयोगों का विश्लेषण करने के उपरांत यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि लोकगाथा ही उसका सबसे उपयुक्त एवं सार्थक नाम हो सकता है। लोकगाथा वस्तुतः मानव समाज का आदिम साहित्यिक रूप है। ऋग्वेद के कुछ संवाद सूक्तों और वाराशंसी गाथाओं को प्राचीनतम लोकगाथा माना जा सकता है। पुराणों और महाभारत में भी इस प्रकार कि लोकगाथाएं शिष्ट साहित्य का रूप धारण कर समाविष्ट हो गयी हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में जो लोकगीत पाये जाते हैं, उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता हैं। प्रथम प्रकार के वे गीत हैं, जो आकार में छोटे होते हैं, जिनमें कथानक का अभाव होता है और जिनकी मुख्य विशेषता गेयता है। दूसरे प्रकार के वे गीत हैं जो आकार में बड़े हैं, जिनमें कथानक की प्रधानता के साथ ही गेयता भी है। काव्य की भाषा में इन्हें मुक्तक और प्रबंध-काव्य कह सकते हैं। संस्कार तथा ऋतु सम्बन्धी गीत प्रथम कोटी में आते हैं और आल्हा उदल, भरथरी, चंदैनी और ढोला-मारू आदि के गीत द्वितीय श्रेणी में रखे जा

सकते हैं। इसप्रकार प्रथम प्रकार के गीतों को 'लोकगीत' तथा द्वितीय प्रकार के गीतों को 'लोकगाथा' कहा जाता है।

लोकगाथाओं की उत्पत्ति

लोकगाथाओं की उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत किए है, परन्तु किसी ने प्रामाणिक खोज नहीं उपस्थित किया है। सभी ने कल्पना और अनुमान से काम लिया है। वास्तव में लोकगाथाओं की उत्पत्ति, एक अत्यंत जटिल विषय है। कठिनाई का सबसे प्रमुख कारण यह है कि लोकगाथाओं की कहीं भी हस्तलिखित प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती। यह अनुमान है कि मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ, नृत्यों, गीतों एवं गाथाओं का विकास हुआ होगा। उस समय लेखन कला का विकास नहीं हुआ था, अतएव हमें मौखिक परम्परा का ही इतिहास प्राप्त होता है। मौखिक परम्परा के द्वारा ही लोकगाथाओं ने लोकमत की अभिव्यंजना की है। मौखिक परम्परा के कारण ही लोकगाथाएं एक रहस्यात्मक वस्तु बन गई हैं। महाकवि गेटे ने एक स्थान पर लिखा है कि - "जातिय गीतों एवं लोकगाथाओं की विशेष महत्ता यह है कि उन्हें सीधे प्रकृति से नव्यप्रेरणा प्राप्त होती है। वे उन्मेषित नहीं की जाती वरन् स्वतः एक रहस्य-स्रोत से प्रवाहित होती है।"

लोकगाथा के उदभव के ऐतिहासिक अध्ययन में जो दूसरी कठिनाई है, उसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। समाज का उच्चस्तर सामान्य लोकहृदय की निश्छल और निरलंकार अभिव्यंजना को सदा से असंस्कृत, काव्यात्मकता से च्युत तथा गंवार मानता था। इस विकृत आदर्शवाद के फलस्वरूप शताब्दियों से मौखिक परम्परा में रक्षित लोकगाथाओं की ओर हमारी दृष्टि गयी ही नहीं। भारतीय साहित्यकार एवं मनीषी लोकहृदय को तो भली-भांति समझते थे, परंतु वे देववाणी संस्कृत अथवा राजभाषा को ही उतरोत्तर परिष्कृत एवं परिमार्जित करने में इतने अधिक व्यस्त थे कि उन्हें दूसरी ओर दृष्टि फेरने का समय ही नहीं मिला। जब एक राष्ट्र में शिक्षा का प्रसार होने लगता है तो वह अपने मौखिक साहित्य का अनादर करने लगता है अपने मौखिक साहित्य को अपनाने में लोग लज्जा का अनुभव करते है और इसप्रकार प्रगतिवान संस्कृति आश्चर्यजनक ढंग से मौखिक साहित्य को नष्ट कर डालती हैं। ऐसी परिस्थिति में लोकगाथाओं की उत्पत्ति के विषय में विचार करना वास्तव में जटिल समस्या है।

प्रसिद्ध जर्मन भाषा शास्त्री ग्रिम महोदय के अनुसार लोकगाथा लोकजीवन की अभिव्यक्ति है। किसी भी देश के समस्त निवासी (फोक) ही लोकगाथाओं की सामूहिक रचना करते है। आदिम अवस्था से ही प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक रूप से नृत्य, संगीत, गीतों एवं लोकगाथाओं की रचना में लगे हुए हैं।

एफ.जे.चाइल्ड के अनुसार लोकगाथाओं में उसके रचयिता के व्यक्तित्त्व का सर्वथा अभाव रहता है। गाथा का प्रथम गायक लोकगाथा की सृष्टि कर जनता के हाथों में इन्हें समर्पित कर स्वयं अंतर्निहित हो जाता है। मौखिक परम्परा के कारण उसकी वाणी में अन्य व्यक्तियों एवं समूहों की वाणी भी मिश्रित होती जाती है। यहाँ तक कि प्रथम रचना का रंगरूप ही बदल जाता है। उसमें नये अंश जोड़ दिये जाते हैं तथा पुराने अंश छोड़ भी दिये जाते है। घटनाओं में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। इसप्रकार वह रचना व्यक्ति की न होकर सम्पूर्ण समाज की हो जाती है। आधुनिक समय में यह मत सर्वमान्य हो गया है। इसप्रकार लोकगाथाओं की यह धारा अक्षुण्ण रूप से सदैव प्रवाहित होती रहती है उसका कभी अंत नहीं होता।

लोकगाथाओं की उत्पत्ति के सम्बंध में भारत के विद्वानों का मत है – गीत स्रष्टा स्त्री-पुरुष दोनों हैं, परंतु ये स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जो कागज कलम का उपयोग नहीं जानते हैं। यह संभव है की एक गीत कि रचना में बीसों वर्ष और सैकड़ों मस्तिष्क लगें हों।

इस प्रकार लोकगाथाओं की उत्पत्ति के विषय में विविध विद्वानों के प्रतिपादित सिद्धांतों का अनुशीलन करने से हमें प्रमुख रूप से तीन तत्त्व मिलते हैं – प्रथम, लोकगाथाएँ मौखिक परम्परा की ही वस्तु है। द्वितीय, लोकगाथाएँ सम्पूर्ण समाज की निधि हैं। तृतीय, लोकगाथाएँ यदि व्यक्तिगत रचनाएँ हैं तो उनमें व्यक्ति के व्यक्तित्त्व का पूर्ण अभाव है। लोकगाथाओं पर लोक अथवा समाज के अधिकार को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। यद्यपि इधर अनेक व्यक्तियों ने इन लोकगाथाओं से अनुचित लाभ उठाया है, उन्हें अपने नाम से प्रकाशित कराया है तथा उसमें स्वयं की भी रचनाएँ जोड़ दी हैं। परंतु इसमें लोकगाथाओं के सहज स्वभाव को कोई नष्ट नहीं कर सका है।

लोकगाथाओं की विशेषताएँ

लोकगाथाओं की प्रमुख विशेषता है, उसका लंबा कथानक। प्रायः सभी लोकगाथाओं का स्वरूप विशाल होता है। लोकगाथा के अन्तर्गत एक कथा का

होना अत्यंत आवश्यक है। यह कथा चरित्रों के जीवन का सांगोपांग वर्णन करती है, जिसके परिणामस्वरूप लोकगाथा वृहद हो जाती है। लोकगाथाओं के वृहद होने का दूसरा कारण है सम्पूर्ण समाज का सामूहिक सहयोग। प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ न कुछ जोड़ता ही है। भारतीय लोकगाथाएँ अधिकांश रूप में लंबे कथानक वाली ही हैं, इनका आकार महाकाव्य की भांति होता है। लोकगाथाएँ नाटक के अंतिम भाग से प्रारम्भ होती है, तथा बिना किसी निर्देश के चरम सीमा पर पहुँचती हैं। कथा का आरंभ भी अकस्मात हो जाता है। उसमें किसी परिचय या भूमिका का विधान नहीं मिलता। लम्बा कथानक ही लोकगाथाओं को लोकगीतों से पृथक करता है। लोकगीत भावना प्रधान होते हैं, उसमें जीवन के किसी अंश की ही भावपूर्ण व्यंजना होती है, इसीकारण लोकगीत छोटे होते हैं, जबकि लोकगाथाओं का कर्तव्य होता है कथा कहना, अतएव वे लम्बी होती हैं। लोकगाथाओं के भौगोलिक वर्णनों से उनके ऐतिहासिक सत्य का केवल आभास होता है। लोकगाथाओं के रचयिता को इतिहास-निर्माण की चिंता नहीं रहती। वस्तुतः उनकी ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता संदिग्ध है और इतिहास में उनका महत्व बहुत कम है।

ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी देशों की लोकगाथाओं की विशेषताएँ प्रायः समान हैं। लोकगाथाओं की ये विशेषताएँ ही प्रायः उन्हें अलंकृत काव्य से पृथक् करती हैं। मुख्य विशेषताएँ हैं -

1. रचयिता का पता न होना,
2. प्रामाणिक मूल पाठ का न मिलना,
3. संगीत और कभी कभी नृत्य की अनिवार्य स्थिति,
4. स्थानीय प्रभाव,
5. मौखिक स्थिति,
6. अलंकृत शैली के अभाव के साथ साथ स्वाभाविकता का पुट,
7. उपदेशों का अभाव,
8. रचयिता के व्यक्तित्त्व का अभाव,
9. लंबी कथावस्तु,
10. टेक पदों की बार-बार आवृत्ति,
11. ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्धता।

लोकगाथाओं की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इनके रचयिता अज्ञात हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके रचयिता लापरवाह थे और लंबी

लोककथाओं की रचना के बाद अपना नाम देना भूल जाते थे। यही कारण है कि परंपरा से चली आती हुई लोकगाथाओं में जब लोग अपने बनाए हुए पद जोड़ देते हैं तब पता ही नहीं चलता। इन लोकगाथाओं में तत्कालीन सामाजिक स्थिति की झलक मिलती हैं।

लोकगाथाओं में प्रामाणिक मूल पाठ का अभाव मिलता है। रचयिता के अज्ञात होने के कारण यह स्वाभाविक भी है। प्राप्त लोकगाथाओं के रचयिता एक बार लोकगाथाओं का सूत्रपात करके उन्हें समाज को सौंप देते तथा स्वयं हट जाते हैं, और उसके बाद लोकगाथाओं की एक ऐसी निरंतर धारा प्रवाहित होने लगती है जिसका कभी अंत नहीं होता। लोकगाथाओं को प्रत्येक युग अपनी निजी संपत्ति समझता है और प्रत्येक गवैया अपनी इच्छानुसार कुछ पंक्तियाँ भी जोड़ देता है। जैसे जैसे ये लोकगाथाएँ एक गवैये से दूसरे गवैये के पास जाती हैं इनमें परिवर्तन होता जाता है। इस प्रकार इन के प्रामाणिक पाठ का मिलना नितांत असंभव हो गया है।

लोकगाथाओं में संगीत की स्थिति अनिवार्य होती है। चूँकि इनमें सूक्ष्म भावों की व्यंजना नहीं पाई जाती, इसलिए इनमें साहित्यिकता का अभाव होता है। यद्यपि प्राचीन भारतीय लोकगाथाओं में प्राय: नृत्य का समावेश अनिवार्य था, तथापि धीरे धीरे यह गौण होता गया और आज तो दिखाई ही नहीं पड़ता।

लोककथाएँ चाहे जहाँ की भी हों, स्थान विशेष पर पहुँचकर वहाँ की विशेषताएँ अपना लेती हैं। उनका निर्माण प्राय: किसी घटना के कारण होता है और इनमें तद्देशीय वातावरण एवं स्थानीयता का समावेश हो जाता है। लोरिकी' में बिहार के कई गाँवों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। ढोलामारू' की लोकगाथा में ऊँट का विशेष महत्व है क्योंकि वहाँ का यातायात साधन ऊँट ही है। पर्वतीय अंचलों में चूँकि सर्दी अधिक पड़ती है अतएव वहाँ की बालाएँ अपने पिता से कहती हैं कि (लोकगाथाओं के अंतर्गत) मेरा ब्याह ऐसी जगह मत कीजिएगा जहाँ गर्मी अधिक पड़ती हो और पसीने से परेशान हो जाऊँ। मैथिली लोकगाथाओं में वहाँ की स्थानीय प्रथाओं की झाँकी मिलती है।

भारत में मौखिक परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। वेद साहित्य भी इसी परंपरांतर्गत गुरु शिष्यों के माध्यम से आगे बढ़ता रहा और बाद में लिपिबद्ध किया गया। लोकगाथाएँ लिपिबद्ध नहीं होती थीं, अपितु मौखिक परंपरा के रूप में ही चली आ रही हैं। वास्तव में इनकी महत्ता भी तभी तक है जब यह लिपिबद्ध न हों। लिपिबद्ध होने के पश्चात् इनका विस्तार रुक जाता है तथा

इनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। कारण यह है कि जब तक ये मौखिक परंपरा में रहती हैं तब तक तो लोक की सामग्री रहती हैं पर जब लिपिबद्ध हो जाती हैं तब साहित्य की संपत्ति हो जाती हैं।

लोकगाथाएँ हृदय का धन होती हैं। इनमें अपने आप ही माधुर्य और स्वाभाविकता आ जाती है। इनमें अलंकृत शैली के अभाव का कारण यह है कि यह किसी व्यक्तिविशेष की संपत्ति न होकर संपूर्ण समाज की संपत्ति होती हैं। इनकी उत्पत्ति चूँकि प्राचीन काल से है तथा उस समय अलंकृत रूप का विकास नहीं हुआ था इसलिए अलंकृत शैली का अभाव स्वाभाविक है।

लोकगाथाओं में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का नितांत अभाव पाया जाता है। लोकजीवन का संपूर्ण चित्र उपस्थित करना ही प्रायः उनका उद्देश्य होता है। लोकगाथाओं का गायन मात्र ही गायकों का कार्य होता है। उससे कुछ प्राप्त कर लेना श्रोताओं का कार्य हैं।

लोकगाथाओं में लेखक के व्यक्तित्त्व का पूर्ण अभाव पाया जाता है। चूँकि इन गाथाओं के रचयिता के बारे में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह कोई एक विशिष्ट व्यक्ति है, इसलिए उसके व्यक्तित्त्व का प्रभाव भी समाज पर नहीं पड़ता। इनमें केवल विषय की प्रधानता होती है, लेखक के व्यक्तित्त्व का अस्तित्त्व नहीं होता।

इन गाथाओं का कथानक अत्यंत विस्तृत होता है। चूँकि कथात्मक गीतों को ही लोकगाथा कहते हैं इसलिए स्वभावतः कथा के विस्तार के साथ ही गाथा का विस्तार भी बढ़ जाता है।

इसके विस्तार का दूसरा कारण यह हो सकता है कि इसे समाज अपनी संपत्ति समझता है और मनमाने ढंग से सभी इसमें कुछ न कुछ बढ़ा देते हैं। चूँकि लोकगाथाओं का उद्देश्य केवल कथा कहना होता है इसलिए ये अतीव लंबी हो जाती हैं।

लोकगाथाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता उसके टेक पदों की पुनरावृत्ति है। गाथा को आनंददायक तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए गीतों को बराबर दुहराकर गाने का प्रचलन पाया जाता है। इनकी इस प्रवृत्ति से यह विदित होता है कि ये गाथाएँ सामूहिक रूप से गाई जाती थीं। इस प्रवृत्ति से कुछ लाभ भी हैं। गाथाओं के गायन के लिए जब दो वर्ग एकत्र होते हैं तब टेक पदों की पुनरावृत्ति से वातावरण ओजस्वी हो जाता है तथा दूसरा समूह भी ऊब से बच

जाता है। इस प्रवृत्ति से श्रोताओं को भी आनंद की अनुभूति होती है और गायक भी राहत तथा उत्साह अनुभव करते हैं।

इन लोकगाथाओं की ऐतिहासिकता तो होती नहीं, और यदि किसी प्रकार कहीं इनका ऐतिहासिक आधार मिल भी गया तो वह संदिग्ध होता है। 'आल्हा, राजा गोपीचंद', 'राजा भरथरी' बाबू कुँवर सिंह' इत्यादि लोकगाथाओं का इतिहास से कुछ समर्थन मिलता है पर कुछ का कोई सूत्र नहीं मिलता। उदाहरणार्थ शोभानायक, बनजारा', लोरिकी' सोरठी इत्यादि का इतिहास में कोई वर्णन नहीं मिलता।

भारतीय लोकगाथाएँ

लोकगाथाओं के अध्ययन की दृष्टि से भारतीय लोकसाहित्य बेहद महत्त्वपूर्ण है। यहाँ की भाषाओं-संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश तथा मध्यकालीन क्षेत्रीय भाषाओं में विपुल परिमाण में लोक ने गाथाओं का सृजन किया जो विविध रूपों में गाई और कही जाती हैं। वेद, उपनिषद, पुराण, बौद्ध, जैन एवं अन्य दार्शनिक ग्रंथों पर भी इन गाथाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। भारतीय लोकगाथाएँ लोक की साहित्यिक अभिव्यक्ति और सुदूर अतीत की परंपरा की संवाहक हैं। इनके तत्त्व ऋग्वेद की स्तुतियों में भी देखे जा सकते हैं। इसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथों में भी अनेक गाथाओं को कथा रूप में प्रस्तुत किया गया है। डॉ. सत्येन्द्र भारतीय कथा साहित्य परम्परा पर लिखते हैं कि लोकवार्ता के परम्परा प्राप्त भण्डार में से साहित्य ने कभी कोई सामग्री ग्रहण की, कभी कोई। कभी भगवान विष्णु को महत्व दिया तो कभी शिव को। समय बीतते-बीतते महत्व के बिन्दु बदलते गये, नये भावों के अनुरूप पुरानों को ढालने की चेष्टा की गयी। इन्द्र का जो महत्व हमें वेद में मिलता है वह पुराणों में नहीं मिलता। इस समय तक आते आते गाथा का स्वरूप अधिक पुष्ट होता प्रतीत होता है (सत्येन्द्र 2017: 166-67)। इस पर डॉ. सोहनदास चारण लिखते हैं कि प्राचीन आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं के संकलन का ही नाम 'पुराण' माना गया है। पुराण काल से बुद्ध के समय में आते-आते गाथाओं का प्रचलन सर्वसाधारण में हो गया। इसके बाद विभिन्न अपभ्रशों और उनसे निकली भारतीय भाषाओं में गाथाओं का सृजन हुआ। इस तरह उपनिषद काल आते-आते इन गाथाओं का स्वरूप परिवर्तित हुआ और उनके कथानक ने नया बाना धारण किया । पुराण युग में इनका स्वरूप अधिक पुष्ट हुआ (चारण 2016: 192)। महाभारत को तो वर्णन प्रधान गाथा का महत्वपूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है।

महात्मा बुद्ध सदैव लोक के निकट रहे और अपने उपदेशों में लोक भाषा का सहारा लिया। उनके समय में गाथाओं का सर्वाधिक प्रचलन आम जन में हुआ। बुद्ध के जीवन से जुड़ी अनेक गाथाएँ पाली भाषा में रचित 'जातक' ग्रंथों में संग्रहित की गईं। अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी भाषा में 'रासक' या 'रासो' ग्रंथों के रूप में हजारों लोकगाथाएँ लोक में प्रचलित हुईं। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय लोकसाहित्य में लोकगाथाओं का रचाव विपुल मात्रा में हुआ है और यह परंपरा लिखित साहित्य को भी प्रभावित करती रही है।

लोकसाहित्य की एक जनजीवन से जुड़ी बेहद लोकप्रिय विधा 'लोकगाथाएँ' हैं जिनमें माटी की सौंधी महक है। पाश्चात्य साहित्य अथवा अंग्रेजी भाषा में इसे 'Ballad' (ballad) नाम से जाना जाता है जिसका शाब्दिक अभिप्राय 'लम्बा गीत' होता है। सोहनदास चारण (2016)व नंदलाल कल्ला(2016) जैसे शोधकर्त्ता इसके विभिन्न नामकरण करते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं -

1. ग्राम गीत
2. नृत्य गीत
3. आख्यान गीत
4. आख्यानक गीत
5. वीर गाथा या वीर काव्य इत्यादि।

उपरोक्त सभी शब्द अंतत: 'लोकगाथा' के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। अंग्रेजी का शब्द 'बैलेड' (Ballad लैटिन शब्द 'Ballare' से बना है जिसका शाब्दिक अभिप्राय 'नाचना' होता है। इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में लोकगाथा की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि लोकगाथा एक ऐसी पद्य शैली है जिसका सृजनकर्ता अज्ञात होता है। इसमें साधारण उपाख्यान का वर्णन होता है जो सरल एवं मौखिक याद रखने की परंपरा के लायक होता है। लोकगाथा में ललित कला जैसी जटिलताएँ, सूक्ष्मताएँ एवं दुश्वारियाँ नहीं होती हैं। अंग्रेजी के लोकसाहित्य शोधार्थी प्रो. क्रिटीज के अनुसार लोकगाथा एक ऐसा गीत होता है जिसमें कोई कथा कही होती है। इसी प्रकार एफ.बी. गुमेर ने लिखा है कि लोकगाथा गायन के लिए रची एक ऐसी कविता होती है जो सामग्री की दृष्टि से व्यक्ति शून्य होती है और प्रारम्भ से समूह नृत्यों से जुड़ी हुई है पर यह 'मौखिक परंपरा' में पलती-पनपती है,इसके गायक साहित्य के प्रभाव से मुक्त होते हैं।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने भोजपुरी लोकसाहित्य पर व्यापक शोध-कार्य किया है। उन्होंने भारतीय लोकसाहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष को उजागर करते हुए

लोकगाथा की परिभाषा इस प्रकार दी है –'लोकगाथा वह गाथा या कथा है जो गीतों में कही गई है' (उपाध्याय 1960: 12)। महाराष्ट्र में लोकगाथा के लिए 'पवाड़ा' शब्द प्रचलित है। गुजराती लोकसाहित्य के नामी विद्वान झवेरचंद मेघाणी लोकगाथा को 'कथागीत' नाम देते हैं। राजस्थानी के विद्वान सूर्यकरण पारीक 'बैलेड' के लिए 'गीत कथा' नाम देते हैं। उपरोक्त विद्वानों की परिभाषाओं के अवलोकन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि लोकगाथा कहीं न कहीं गायन से संबंध रखती है और लोकसाहित्य का काव्य प्रधान रूप है।

लोकगाथाओं का वर्गीकरण

लोकसाहित्य के मर्मज्ञ डॉ. नंदलाल कल्ला (2016: 136-37) के अनुसार विषयवस्तु की दृष्टि से लोकगाथाओं को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. प्रेमप्रधान लोकगाथाएँ
2. वीरत्व व्यंजक लोकगाथाएँ
3. पौराणिक लोकगाथाएँ
4. भक्तिपरक लोकगाथाएँ

लोकगाथाओं की सामान्य विशेषताएँ

लोकगाथाओं के स्वरूप का विवेचन करने के उपरांत इनकी निम्नांकित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं –

1. अज्ञात रचयिता–राजस्थान प्रदेश में मिलने वाली लोकगाथाओं पर किसी व्यक्ति विशेष की छाप नहीं है। इनका रचयिता समस्त समाज है। अपने प्रारंभिक स्वरूप से वर्तमान तक इनमें असंख्य परिवर्तन भी हुए हैं। लोक साहित्य के विद्वान डॉ. सोहनदान चारण (2016: 199)कहते हैं कि लोकगाथा का रचयिता अज्ञात रहता है।

2. मंगलाचरण–लोकगाथाओं के प्रस्तुतिकरण के समय प्रत्येक गाथा के आरंभ में मंगलाचरण का विधान होता है जिसमें सर्वप्रथम गणेश वंदना के उपरांत देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है। कुछ गाथाओं में हिन्दू देवों की स्तुति के साथ मुस्लिम पीर-पैगम्बरों की भी स्तुति की गई है। यह दोनों संस्कृतियों के संयोग का उदाहरण है। प्रसिद्ध लोकगाथा 'बगड़ावत' के आरंभ का मंगलाचरण पद प्रस्तुत है जिसमें भगवान गणेश की स्तुति के साथ शिव-पार्वती और हनुमान की आराधना की गई है –

पैली विनायक सिंवरजो, च्यार भुजाधारी।
रिध सिध नारी, थारे मूसे री जसवारी॥
बिघन विनायक सिंवरजो, पौरस ने अगनि रो हड़मान।
रिध सिधि भोळानाथ ने सिंवरजो पारवती रो नाथ॥

3. लोक वाद्य की संगत –राजस्थानी लोकगाथाओं में गाथा प्रस्तुतिकरण के समय लोक वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक गाथा के साथ लोकवाद्य जुड़ा होता है जो उसकी विशिष्ट पहचान होता है। वाद्यों का प्रयोग गाथा के साथ संगीत का विधान करने के लिए होता है। जैसे पाबूजी की गाथा के साथ 'रावण हत्था', रामदेवजी की गाथा के साथ 'तंदूरा', गोगाजी की गाथा के साथ 'डेरूं' और बगड़ावत गाथा के साथ 'थाली' आदि वाद्ययंत्रों की संगत जुड़ी होती है।

4. स्थानीय रंगत –राजस्थान प्रदेश की अधिकांश गाथाओं के नायक स्थानीय हैं और इन गाथाओं के कथानक में स्थानीय परिवेश की पूरी-पूरी छाप है। यहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, वेशभूषा आदि का वर्णन इन गाथाओं में दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ ही यहाँ की प्रकृति तथा जीव-जन्तुओं का भी वर्णन इनमें देखा जा सकता है। प्रसिद्ध लोकगाथा 'ढोला-मारु' में गाथा के नायक ढोला और नायिका मारवणी के संवाद में राजस्थान के ग्रीष्मकाल का वर्णन इस प्रकार मिलता है –

थळ तत्ता, लू सांमुही, दाझोला परियाह।
म्हांकउ कहियउ जउ करउ घरि बइठा रहियाह॥

5. गद्य-पद्य का मिश्रण –राजस्थानी लोकगाथाओं में गीतांशों के साथ गद्य का भी प्रयोग मिलता है। ये गद्य खंड गीतों में वर्णित कथा को जोड़ने की कड़ी का कार्य करते हैं। हालांकि गाथाओं में गद्य कम ही होता है और इसकी प्रमुख घटनाएँ गेय रूप में वर्णित होती हैं।

6. संदिग्ध ऐतिहासिकता –अनेक राजस्थानी लोकगाथाओं के नायक ऐतिहासिक रूप से इस प्रदेश में जन्मे थे और उनका ऐतिहासिक महत्व भी है। इन सभी के जीवन पर लोक ने गाथाएँ निर्मित की हैं पर इनके वास्तविक जीवन और गाथा के कथानक में काफी परिवर्तन मिलता है। ऐतिहासिक नायकों पर लोकप्रचलित अनेक गाथाओं में कल्पना का बड़ा हिस्सा भी जुड़ गया है। लोकगाथाओं की संदिग्ध ऐतिहासिकता पर लोकसाहित्य के मर्मज्ञ डॉ. नंदलाल कल्ला लिखते हैं – 'लोकगाथा के गायकों के लिए 'इतिहास' साध्य नहीं है, वह तो साधन है। उनका मुख्य लक्ष्य तो लोकमानस को रिझाना होता है। (2001: 131)।'

7. प्रेरणा-स्रोत वाक्य –राजस्थानी लोकगाथाओं में अनेक कथानकों में ऐसा प्रसंग भी मिलता है जहाँ नायक किसी एक कथन अथवा वाक्य के कारण किसी कार्य को अपना ध्येय बना लेता है और उसे पूरा करने के लिए प्राणपन से यत्न करता है। ये वाक्य नायक के लिए किसी 'प्रेरणा-स्रोत वाक्य' की भांति होते हैं जिससे वह प्रेरित होता है। प्रसिद्ध लोकदेवता तेजा की गाथा में इसी प्रकार का उदाहरण मिलता है जिसमें वे अपनी भाभी का ताना सुनकर अपनी पत्नी को पीहर से लाने के लिए रवाना होते हैं और सम्पूर्ण घटनाक्रम घटित होता है(चारण 2016: 211)।

राजस्थानी लोकगाथाएँ– परिचयात्मक विवरण

साहित्यिक दृष्टि से राजस्थानी साहित्य में आदिकाल से ही सबल परंपरा रही है। यहाँ की राजस्थानी भाषा और उसकी विभिन्न बोलियों में विक्रम की आठवीं सदी से ही साहित्य का सृजन होता रहा है। राजस्थानी भाषा साहित्य के विद्वान डॉ. मोतीलाल मेनारिया इसी परम्परा पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि इस काल का साहित्य जितना अधिक राजस्थानी भाषा में मिलता है, उतना भारत की अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं मिलता है। वे राजस्थानी भाषा के शुरूआती रचनाकारों (वीर गाथा काल, लगभग 11वीं से 13वीं सदी तक) में शांगधर (हम्मीर रासौ), असाइत (हंसावली), श्रीधर (रणमल्ल छंद), दलपत (खुमांण रासौ), नलसिंह (विजयपाल रासौ) आदि का उल्लेख करते हैं। इसके अलावा लोकसाहित्य की विभिन्न विधाओं यथा लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा आदि के माध्यम से भी जनमानस के भावों की प्रभावी व्यंजना होती रही है। लोकसाहित्य वस्तुत: 'श्रव्य' और 'अलिखित' साहित्य है जो 'अभिजात्य' या 'शिष्ट' साहित्य की भांति कृत्रिम बंधनों में नहीं बंधा होता परंतु भावों की व्यंजना की दृष्टि से लोकसाहित्य अभिजात्य साहित्य से कहीं अधिक प्रभावी होता है। लोकसाहित्य की एक जनजीवन से जुड़ी बेहद लोकप्रिय विधा 'लोकगाथाएँ' हैं जिनमें माटी की सौंधी महक है। लोकगाथा गेय परंपरा एवं विषयगत विविधता से परिपूर्ण अमूल्य विधा है जिसमें लोकनायकों, शासकों व सामन्तों से लेकर मानव-मात्र के कल्याणार्थ प्राणोत्सर्ग करने वाले असंख्य वीरों के बखान के साथ ही नीति-व्यवहार का ज्ञान देने वाली गाथाएँ शामिल हैं। लोकसाहित्य की अन्य विधाओं की भांति राजस्थानी लोकगाथाओं की सबल परंपरा रही है।

राजस्थान में पचास के लगभग लोकगाथाएँ प्रचलित हैं और वर्तमान में भी इन्हें उत्साह और चाव के साथ सुना जाता है। लोकगाथाओं के रचयिता अनाम हैं तत्पश्चात् लोक अपनी सुविधानुसार इनमें स्वयं की निश्रृत भावना जोड़ता गया। इनकी प्रमुख विशेषताओं में इनके रचयिता का अज्ञात होना, आरंभ करते समय मंगलाचरण, लोकवाद्यों की संगत, स्थानीय रंगत, गद्य-पद्य का मेल आदि गिनी जा सकती हैं। इनमें गीति तत्त्व एक आवश्यक अंग होता है जो तात्कालिक इतिहास को भी स्वयं में समाहित किये हुए होती हैं। हालांकि इसमें इतिहास के साथ कल्पनाएँ भी काफी हद तक मिश्रित हो गई हैं। जैसा कि कहा गया है- लोकगाथा के गायकों के लिए 'इतिहास' साध्य नहीं है, वह तो केवल साधन मात्र है। उनका मुख्य उद्देश्य लोकमानस को रिझाना होता है।

पीढ़ियों से श्रुतिपरंपरा के माध्यम से अनवरत चली आ रही समृद्ध परंपरा के रूप में राजस्थानी लोकगाथाएँ सांस्कृतिक जीवन का प्रतिबिम्ब हैं और इनमें लोकजीवन के आदर्श, धार्मिक आस्था, सामाजिक अनुष्ठान, लोकविश्वास, पर्व, मान्यताएँ, दर्शन, लोकनीति आदि समाविष्ट रहते हैं। लोकगाथाओं का उद्देश्य केवल लोकानुरंजन नहीं है अपितु इनके माध्यम से लोक अपने आदर्श नर-नारी रत्नों को जीवित रखता है। लोकगाथाओं की विषयगत विविधता लोकजीवन से संबंधित अनेक पक्षों की झलक प्रदान करती है। लोकगाथाएँ लोकसम्पति हैं और मौखिक परंपरा में जीवित रहती हैं। सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही मौखिक परंपरा ही इनकी ताकत है। इन्हें कथा, गीत और अभिनय की अद्‌भुत त्रिवेणी और संगम कहा जा सकता है।

ग्राम्य जीवन में कृषि आदि कार्यों से मुक्त होकर संध्या को चौपालों पर एकत्र होकर लोकगाथाओं को सुनने की परंपरा रही है। आकार की दृष्टि से ये लघु से लेकर कई-कई रातों तक चलने वाली होती हैं। लोकगाथाओं को कहने वाला इतना वाकनिपुण होता है कि शब्दों एवं स्वाभिनय के माध्यम से गाथा की पृष्ठभूमि को मानस पर किसी दृश्यावली की भांति अंकित करता जाता है और तल्लीन श्रोता विभिन्न चरित्रों को स्वयं के सामने उपस्थित सा अनुभव करने लगते हैं। कथाओं को कहने वाला 'वाचक' लोक में 'बातपोस' कहा जाता है। लोकगाथा आरंभ करने से पूर्व सरस वातावरण बनाने के लिए कुछ पद्यनुमा कथनों में देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है, जिसे 'मंगलाचरण' कहा जाता है। कुछेक गाथाओं में देवी-देवताओं की स्तुति के साथ पीर-पैगम्बरों का भी

स्मरण किया जाता है। मंगलाचरण में सद् आदर्शों एवं सदुद्देश्य को व्यक्त किया जाता है। लोकगाथाओं में गाथा के साथ-साथ कथानक रूढ़ियाँ सम्प्रेषणीयता व सरसता में अभिवृद्धि करती हैं। सामान्यतया लोकगाथा का अधिकांश भाग गीत अथवा पद्यात्मक रूप में होता है पर बीच-बीच में गद्य भाग भी होता है। उक्त गद्य खण्ड गाई जा रही गाथा के सूत्र जोड़ने का कार्य करता है। इससे गाथा के गायक के कण्ठों को भी किंचित विश्राम मिलता है। प्रत्येक लोकगाथा के साथ कोई न कोई वाद्य यंत्र अवश्य जुड़ा होता है जिसकी संगत से गाथा प्रस्तुत की जाती है।

राजस्थानी लोकगाथाओं के साथ कुछेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे पाबूजी, बगड़ावत और देवनारायण लोकगाथाओं के साथ 'पड़' अथवा 'फड़' शब्द का प्रयोग होता है जिसमें चित्रांकन के माध्यम से गाथा का गायन किया जाता है। युद्ध प्रधान लोकगाथाओं में 'भारत' शब्द जुड़ा होता है, जैसे काळा-गोरा रौ भारत, माताजी रौ भारतआदि। इसी प्रकार 'ब्यावलो' नाम जुड़ी हुई गाथाओं में चरित्रनायक के जन्म से लेकर विवाह तक की घटनाओं का सरस चित्रण मिलता है।

लोकगाथाएँ अपनी विषयवस्तु के अनुरूप श्रोताओं के हृदय में रस-भाव जागृत करती हैं और वह स्वयं को प्रस्तुत लोकगाथा के किसी पात्र के साथ जुड़ा अनुभव करता है। विषयवस्तु की दृष्टि से राजस्थानी लोकगाथाओं को वीरतत्त्व व्यंजक गाथाओं, प्रेम-प्रधान गाथाओं, पौराणिक गाथाओं तथा भक्तिपरक गाथाओं में वर्गीकृत किया जा सकता है। प्रेमप्रधान लोकगाथाओं जैसे ढोला-मारू, निहालदे-सुलतान, जलाल-बूबना आदि में श्रोता स्वयं को नायक अथवा नायक के प्रेम से जोड़कर उसमें तल्लीन हो जाता है। इसी प्रकार वीरता प्रधान लोकगाथाओं के चरित्र शौर्य के भाव जाग्रत करते हैं। धार्मिक लोकगाथाओं का स्वरूप अध्यात्म की भावना में अभिवृद्धि करता है। इनमें गोपीचंद, भरथरी, रामदेवजी, गोगाजी, तेजाजी, गोगाजी आदि की लोकगाथाएँ प्रमुख हैं। राजस्थानी की समस्त लोकगाथाओं में गद्य-पद्य का मेल मिलता है। इनमें गाथा के साथ-साथ नृत्य और संगीत भी चलता रहता है।

ये गाथाएँ भले ही पुरातन हैं पर इनमें वर्तमान युग के चित्र भी प्रसंगानुसार चित्रित होते रहते हैं और इनके माध्यम से पुराने आदर्शों के साथ नवीन विषय जोड़कर सामाजिक सरोकार का भी निर्वाह भली-भांति किया जाता है। नूतन और पुरातन को जोड़ने वाली ये गाथाएँ एक सबल और सफल विधा के रूप में समाज

में प्रतिष्ठित हैं। पराप्राकृतिक तत्त्वों के वर्णन से ये गाथाएँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से जुड़ जाती हैं और सामान्य लोकमानस के माध्यम से यह भाव प्रकट करती हैं कि पराप्राकृतिक तत्त्व (अतिमानवीय भूत-प्रेत, दैत्य, देवी-देवता आदि) किस स्थिति तक मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। राजस्थानी लोकगाथाओं से जुड़े कई अभिप्राय लोकधारणाओं एवं लोकमानस का बोध कराते हैं। जैसे पाबूजी की गाथा के अनुसार पाबूजी जींदराव खींची से लड़ते हुए अपनी घोड़ी केसर सहित आकाश में चले गए और अभी तक वहीं हैं। धरती से आकाश तक पहुंचने की यह घटना पाबू राठौड़ को सामान्य वीर से लोकदेवता के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है। राजस्थानी लोकगाथाओं में मुख्य कथा के साथ कई छोटी-छोटी उपकथाएँ भी मिलती हैं जो लोकगाथा के स्वरूप में अभिवृद्धि करते हैं। प्रायः ये सभी गाथाएँ मनुष्य को सामान्य से विशिष्ट बनने का मार्ग बताती हैं।

इस प्रकार गाथाएँ रसात्मक स्थलों द्वारा हृदय की रागात्मक वृत्तियों- रति, शोक, करुणा आदि का संतोष और प्रतिपूर्ति करती हैं। लोकगाथाएँ लोक वांङ्गमय की अनमोल धरोहर है और इनमें विषय वैविध्य है। मनुष्य जीवन के उल्लास, हर्ष-विषाद और अन्य भाव इनमें समाये हुए हैं। इन गाथाओं में सरल सा काव्य होता है और भावों की अधिक खींचतान नहीं होती। अभिव्यक्ति की इसी सहजता, गेयता और संगीतात्मकता के कारण ये गाथाएँ दर्शकों को भाव विभोर कर देती हैं और उसमें रागात्मक भावों की सृष्टि करती हैं। लोकगाथाएँ लोकमानस की कालजयी यात्रा का जय स्तम्भ हैं। ये गााथाएँ सहजता, सरलता और रागात्मकता से रंगी हुई बोधगम्य, मौलिक और मधुर रचनाएँ हैं। इनके माध्यम से लोक ने अपने जीवन की गीतिमय अभिव्यक्ति दी है। यही इनके कालजयी होने का आधार है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक संरचना, मनोविज्ञान की दृष्टि से मन की गहराइयों और इतिहास की दृष्टि से यथार्थ समझना है तो हमें लोकगाथाओं के महासागर में उतरना पड़ेगा। स्पष्ट है कि अपने विषय से लेकर कथन, गीत, संगीत और नृत्य और अभिनेयता तक की लोकगाथाओं की विशिष्ट शैली लोक साहित्य का एक जीवन्त और सांस्कृतिक स्वरूप प्रकट करती है।

वस्तुतः विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट होता है कि जन-मन के अनुरंजन में लोकगाथाओं का प्रधान स्थान रहा है। यही कारण है कि ये हमारे जीवन का चिरकाल से ही अंग बनी हुई हैं। इनकी प्राचीनता की दृष्टि से देखें तो वैदिक काल से लेकर आज तक इनकी धारा अक्षुण्ण रीति से प्रवाहित होती आ रही है। डॉ. सोहनदास चारण के अनुसार भारत भूमि पर अत्यन्त प्राचीन काल से

चरित-गाथाओं, यज्ञ-गाथाओं, नीति-गाथाओं तथा साहित्यिक गाथाओं का प्रचलन रहा है। प्राचीन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष विश्व कथा साहित्य में अग्रणी रहा था तो मध्यकाल में इसका प्रदेश राजस्थान भारतीय गाथा साहित्य में अग्रणी रहा है। इसका प्रभाव आधुनिक साहित्य पर भी पड़ा है और समकालीन लेखकों ने परम्परागत कथा और गाथा साहित्य की संप्रेषण क्षमता को अपना आदर्श माना है। राजस्थानी के आरम्भिक कथाकारों का साहित्य लोकगाथाओं के प्रभाव से अछूता नहीं है और इनके कथानकों में कथा साहित्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। डॉ. रामकुमार गरवा ने इसे इंगित करते हुए लिखा है कि आधुनिक राजस्थानी साहित्य में आज भी कभी-कभी पुरानी गद्य परम्परा के अन्तर्गत ऐतिहासिक बातों में प्राचीन शैली के दर्शन होते हैं। आधुनिक राजस्थानी कहानियों पर लोकगाथा साहित्य का भरपूर प्रभाव पड़ा क्योंकि परम्परागत कथाएँ श्रोताओं को रसानुभूति प्रदान करने में बेजोड़ हैं।

शिल्प शैली एवं भाव-बोध के स्तर पर आधुनिक होते हुए भी आधुनिक राजस्थानी कहानी 'वात साहित्य' से एकदम भिन्न नहीं है। राजस्थानी साहित्य के विद्वान डॉ. चेतन स्वामी गाथा साहित्य का आधुनिक राजस्थानी साहित्य पर प्रभाव रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि, 'आधुनिक राजस्थानी कहानियों में स्थित वात-रस को उसकी पारंपरिक पहचान से जोड़कर ही नृसिंह राजपुरोहित ने इसे अभिव्यक्ति के स्तर पर अलग 'मठोठ' (विशिष्टता) का नाम दिया है। राजस्थानी के प्रारंभिक कथाकारों की कहानियों में यह गुण सर्वत्र मिलता है। वात-रस की प्रधानता के कारण ही नृसिंह राजपुरोहित, नानूराम संस्कर्ता, अन्नाराम सुदामा, मूलचंद प्राणेश आदि लेखकों की कहानियों को समाज के किन्हीं कथा-प्रेमी लोगों के बीच में बैठकर सस्वर पाठ कर सुनाया जा सकता है क्योंकि ये कहानियां सुनने वालों को लोककथा की ही भांति आनंदित एवं उत्फुल्लित करती हैं'। अनेक आधुनिक राजस्थानी कथाकारों के कथा साहित्य पर लोकगाथाओं का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इनमें विजयदास देथा, डॉ. मनोहर शर्मा, रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, नृसिंह राजपुरोहित आदि उल्लेख योग्य हैं। विजयदास देथा लोककथाओं के माध्यम से राजस्थानी साहित्य में प्रविष्ट हुए और राजस्थान की लोकप्रिय कथाओं को लिपिबद्ध स्वरूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने गाथाओं जैसे श्रुतिनिष्ठ राजस्थानी गद्य को अपनी लेखनी के माध्यम से मुखरित किया है। उन्होंने सत्तर के दशक में राजस्थानी लोककथाओं को संग्रह 'बातां री फुलवाड़ी' के रूप में प्रस्तुत किया। देथा के लोककथा विषयक

योगदान को रेखांकित करते हुए विद्वान डॉ. रामकुमार गरवा लिखते हैं कि देथा ने राजस्थानी जन-समाज की सांस्कृतिक एवं लौकिक अनुभूति को इन कथाओं में साकार किया है। सफल कथाकार के कथा साहित्य में जिन विशिष्ट शैलियों की अपेक्षा की जाती है, वे सब श्री देथा के कथा साहित्य में देखने को मिलती है। विजयदास देथा के अलावा डॉ. मनोहर शर्मा ने भी लोककथाओं के माध्यम से राजस्थानी संस्कृति को पुनर्जीवित करने का यत्न किया है। इनके साहित्यिक अवदान को रेखांकित करते हुए डॉ. रामकुमार गरवा लिखते हैं कि डॉ. शर्मा की कहानियों का आधार लोककथाएँ हैं। लेखक ने इन कहानियों को सजाकर एक नया रूप प्रदान किया है।

लोकगाथाओं को लिपिबद्ध रूप और मौलिकता के साथ प्रस्तुत करने में रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनका अधिकांश लेखन ही लोकगाथाओं को समर्पित रहा है। उनके प्रसिद्ध लोकगाथा संग्रह 'राजस्थानी लोकगाथा' में दस तथा 'गिर ऊँचा ऊँचा गढ़ां' (2006) में तीस लोकगाथाएँ संकलित हैं। इनके अलावा रानी लक्ष्मीकुमारी ने 'मांझल रात' और 'बगड़ावत गाथा' को भी पुस्तक रूप (राजस्थानी लोकगाथा, 2006)में प्रस्तुत किया है। नृसिंह राजपुरोहित भी राजस्थानी कथा साहित्य क्षेत्र के नामी रचनाकार हैं। उनकी आरंभिक कहानियों पर लोकगाथा की छाप स्पष्ट रूप से अंकित है। उनके योगदान को रेखांकित करते हुए डॉ. चेतन स्वामी लिखते हैं कि नृसिंह राजपुरोहित ने अपनी बहुधा कहानियों को लोकगीत, हर जगह, लोककहावतों और मुहावरों से सजाया है। वे इन चीजों का सांस्कृतिक महत्त्व उजागर करते हैं। राजस्थानी भाषा में अनेक विषयों और शैलियों से युक्त लोकगाथाएँ उपलब्ध होती हैं। कलेवर और विषयवस्तु के आधार पर लोकगाथाओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। डॉ. सोहनदास चारण 'बगड़ावत', 'पाबूजी', 'निहालदे-सुलतान' आदि को वृहत् गाथाओं तथा 'डूंगजी-जवारजी' और 'गोपीचंद भतृहरि' आदि को लघु गाथाओं की श्रेणी में गिनते हैं। विषवस्तु की दृष्टि से वे राजस्थानी लोकगाथाओं को चार श्रेणियों प्रेम-प्रधान, वीरत्व-व्यंजक, पौराणिक और भक्तिपरक लोकगाथाओं में विभाजित करते हैं। मौलिक कथाओं के साथ ही संस्कृत और फारसी आदि कथाओं के अनेक अनुवाद भी मिल जाते हैं। रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत ने रवींद्रनाथ टैगोर की कहानियों को 'रवि ठाकर री बातां' शीर्षक से राजस्थानी में अनुवादित भी किया है। अनेक शोधकार्य भी राजस्थानी लोकगाथाओं पर पूर्व में हो चुके हैं जिनमें डॉ. भरत

ओळा का लघुशोध 'गोगा गाथा'(2015)व मनोहर शर्मा का शोध राजस्थानी वात साहित्य एक अध्ययन प्रमुख हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में लोकसाहित्य को यथोचित सम्मानजनक स्थान अनवरत प्रदत्त होता रहा है और भारत के एक प्रांत की समृद्ध भाषा राजस्थानी के लोकसाहित्य में भी इसी परंपरा का समुचित निर्वहन किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथ यह नामकरण जातीय आधार पर किया गया क्योंकि माना जाता है कि उस समय अधिकांश ग्रंथ रचनाकार ब्राह्मण थे। इन्हें अलग-अलग कई और नाम भी दिये गये। डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी के आलेख 'संस्कृत साहित्य में लोकोन्मुखता' में इस भारतीय लोकसाहित्य परम्परा पर लिखते हुए इसके क्रमगत विकास को ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद साहित्य के रूप में दर्शाया गया है। इनके अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ व शत्पथ ब्राह्मण ग्रंथ इनके दो प्रमुख प्रकार हैं।भारत में लोकगाथाओं की बड़ी ही व्यापक और दीर्घ परंपरा पाई जाती है परंतु इसकी कोई निश्चित संज्ञा नहीं है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में इनके भिन्न भिन्न नाम मिलते हैं। महाराष्ट्र में इन्हें पाँवड़ा, गुजरात में कथागीत' तथा राजस्थान में गीतकथा' कहते हैं।

भारतीय लोकगाथाओं के अनेक प्रकार हैं। स्थूल रूप से इनका वर्गीकरण विषय तथा आकार की दृष्टि से किया जा सकता है। आकार की दृष्टि से ये रचनाएँ लघु और बृहंद दोनों प्रकार की पाई जाती हैं। बृहद् गाथाओं का आकार कभी कभी प्रबंध काव्यों के समान भी पाया जाता है।

किंतु लोकगाथाओं का वास्तविक वर्गीकरण विषय की दृष्टि से ही समीचीन होगा। डा. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार ये त्रिविध हैं।

1. प्रेमकथात्मक गाथा,
2. वीरकथात्मक गाथा,
3. रोमांच कथात्मक गाथा।

प्रथम कोटि की लोकगाथाओं में प्रेम संबंधी वर्णन ही अधिक रहता है। प्रणय में उत्पन्न अनेक घटनाएँ एक स्थान पर सँजो दी जाती हैं। इनमें प्रेम विषम परिस्थिति में उत्पन्न होता है तथा उसी में पलता और बढ़ता है। इसी कारण संघर्ष की अवस्था अनिवार्य होती है। भोजपुरी लोकगाथाओं में कुसुम देवी', भगवती देवी' और लचिया' की गाथाएँ इसी प्रकार की हैं। बिहूला बाला लखंदर, शोभानयका बनजारा' तथा भरथरी चरित में वियोग की

शीर्षावस्था के दर्शन होते हैं। राजस्थान में प्रचलित ढोला मारू' की गाथा तथा पंजाब की हीर राँझा' एवं सोहनी महीवाल' नामक गाथाएँ हृदय को रसमान कर देने में पूर्ण सक्षम हैं।

द्वितीय वर्ग की गाथाएँ वीर कथात्मक गाथाएँ हैं। इन लोकगाथाओं में किसी वीर के साहसपूर्ण कौशल का वर्णन अभीष्ट होता है। इस प्रकार की लोकगाथाओं में प्राय: उसी वीर पुरुष के चरित्र को उभारा जाता है जो नायक होता है। कहीं तो वह किसी आपद्ग्रस्त नारी की रक्षा करते हुए दिखाई पड़ता है, कहीं न्याय की विजय के लिए अन्याय से संघर्ष करता हुआ। इस प्रकार की गाथाओं में आल्हा' सर्वश्रेष्ठ है। लोरिकायन' तथा कुँवर विजयमल' की गाथाएँ भी इसी कोटि में आती हैं।

तृतीय प्रकार की गाथाओं में रोमांच या रोमांस की प्रधानता होती है। इस प्रकार की गाथाएँ प्राय: नायिकाप्रधान पाई जाती हैं। नायिकाओं का लौकिक जीवन रोमांचकारी घटनाओं से भरा हुआ होता है। इस कोटि में प्रमुख रूप से दो लोकगाथाएँ उल्लेखनीय हैं - सोरठी' तथा विहुला बाला लखंदार। इनका मुख्य उद्देश्य सत्य की असत्य पर विजय है।

डा. सत्यव्रत सिन्हा ने इन तीनों के अतिरिक्त एक और वर्ग माना है - योगकथात्मक लोकगाथाएँ।

कथा में नायक बाद में योग धारण कर जोगी बन जाते है और सभी सुख सुविधाएँ छोड़कर संसार से विरक्त हो जाते हैं। इन्होंने इस कोटि के अंतर्गत राजा भरथरी' तथा राजा गोपीचंद्र' की गाथाओं को अलग से स्थान दिया है।

प्रमुख गाथाओं का संक्षिप्त विवरण

विभिन्न भारतीय भाषाओं में प्रधान रूप से कुछ प्रमुख लोकगाथाएँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ हृदयग्राही लोकगाथाओं का विवरण इस प्रकार है -

सोरठी

यह एक प्रेमगाथा है। अपनी अतीत लोकप्रियता के कारण यह भोजपुरी अंचल में खूब प्रचलित हैं। इसमें सोरठी' नायिका तथा बृजमार' नायक के प्रेमप्रसंगों का बड़ा ही विस्तृत और प्रभावशाली वर्णन दृष्टिगोचर होता है। सोरठी जन्म के बाद अपने माता पिता से बिछुड़ जाती है और एक कुम्हार के यहाँ पाली पोसी जाती है। इसी सोरठी को प्राप्त करने के लिए बृजामार अनेक प्रयत्न करता

है। प्राय: इसे एक साथ दो व्यक्ति गाते हैं। इसके प्रकाशित रूप भोजपुरी तथा मैथिली में उपलब्ध हैं। यह मगही में भी गाई जाती हैं।

शोभा नायक बंनजारा

भारतीय बनजारों के जीवन से संबंधित यह प्रेमकथा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है। इसका नायक शोभा नायक है जो व्यापार के लिए मोरंग देश जाता है, तथा इसकी नायिका जसुमति है। विरह और पातिव्रत धर्म का इस गाथा में बड़ा ही मनोहारी वर्णन है। इसमें सामाजिक कुरीतियों तथा अंधविश्वासों एवं अनेक कौटुंबिक पहलुओं पर रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है। इस लोकगाथा के मैथिली, मगही तथा भोजपुरी रूप मिलते हैं।

आल्हा

अपने मूल रूप में यह बुंदेलखंडी लोकगाथा है। इसका संबंध चारण काल से भी माना जाता है। इसके रचयिता के रूप में जगनिक' का नाम लिया जाता है। इस लोकगाथा के नायक आल्हा और ऊदल नामक वीरों का संबंध महोबे के राजा परमर्दिदेव से है। महोबे का पक्ष लेकर इन दोनों वीरों ने अनेक भयानक युद्ध किए तथा उस काल के प्रसिद्ध वीर पृथ्वीराज चौहान को भी परास्त किया। इस लोकगाथा में वीररस की प्रधानता है और यह ढोल एवं नगाड़े पर गाई जाती है।

आल्हा और ऊदल दो भाई थे। ये बुन्देलखण्ड (महोबा) के वीर योद्धा थे। इनकी वीरता की कहानी आज भी उत्तर-भारत के गाँव-गाँव में गायी जाती है। जगनिक ने आल्ह-खण्ड नामक एक काव्य रचा था उसमें इन वीरों की गाथा वर्णित है।

पं. ललिता प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रन्थ आल्हखण्ड की भूमिका में आल्हा को युधिष्ठिर और ऊदल को भीम का साक्षात अवतार बताते हुए लिखा है - यह दोनों वीर अवतारी होने के कारण अतुल पराक्रमी थे। ये प्राय: 12वीं विक्रमीय शताब्दी में पैदा हुए और 13वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक अमानुषी पराक्रम दिखाते हुए वीरगति को प्राप्त हो गये।ऐसा प्रचलित है कि ऊदल की पृथ्वीराज चौहान द्वारा हत्या के पश्चात आल्हा ने संन्यास ले लिया और जो आज तक अमर है और गुरु गोरखनाथ के आदेश से आल्हा ने पृथ्वीराज को जीवनदान दे दिया था ,पृथ्वीराज चौहान के परम मित्र संजम भी महोबा की इसी लड़ाई में आल्हा उदल के सेनापति बलभद्र तिवारी जो कान्यकुब्ज और

कश्यप गोत्र के थे उनके द्वारा मारा गया था। वह शताब्दी वीरों की सदी कही जा सकती है और उस समय की अलौकिक वीरगाथाओं को तब से हम गाते लोग चले आते हैं। आज भी कायर तक उन्हें (आल्हा) सुनकर जोश में भर अनेकों साहस के काम कर डालते हैं। यूरोपीय महायुद्ध में सैनिकों को रणमत्त करने के लिये ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को भी इस (आल्हखण्ड) का सहारा लेना पड़ा था।

ऊदल का जन्म 12 वी सदी में जेठ दशमी दशहरा के दिन दसपुरवा महोबा में हुआ था इनके पिता देशराज थे जिन्हें जम्बे भी कहा गया है माडोगढ़ वर्तमान मांडू जो नर्मदा नदी के किनारे मध्य प्रदेश में स्थित है के पुत्र कीर्तवर्मनके द्वारा युद्व में मारे गये थे जिनकी मा का नाम देवल था जो अहीर यादव जाति के थी बड़ी बहादुर और ज्ञानी महिला थी जिनकी मृत्यु पर आल्हा ने विलाप करते हुए कहा कि मैया देवे सी ना मिलिहै भैया न मिले वीर मलखान पीठ परन तो उदय सिंह है जिन जग जीत लई किरपान/राजा परिमाल की रानी मल्हना ने ऊदल का पालन पोषण पुत्र की तरह किया इनका नाम उदय सिंह रखा ऊदल बचपन से ही युद्ध के प्रति उन्मत्त रहता था इसलिए आल्हखण्ड में लिखा है कलहा पूत देवल क्यार अस्तु जब उदल का जन्म हुआ उस समय का वृत्तान्त आल्ह खण्ड में दिया है जब ज्योतिषों ने बताया।

जौन घड़ी यहु लड़िका जन्मो दूसरो नाय रचो करतार
सेतु बन्ध और रामेश्वर लै करिहै जग जाहिर तलवार
किला जीत ले यह माडू का बाप का बदला लिहै चुकाय
जा कोल्हू में बाबुल पेरे जम्बे को ठाडो दिहे पिराय
किला किला पर परमाले की रानी दुहाई दिहे फिराय
बावन गढ़ पर विजय करिके जीत का झंडा दिहे गड़ाय
तीन बार गढ दिल्ली दाबे मारे मान पिथौरा क्यार
नामकरण जाको ऊदल है भीमसेन क्यार अवतार।

आल्हा का नाम किसने नहीं सुना। पुराने जमाने के चन्देल क्षत्रियों में वीरता और जान पर खेलकर स्वामी की सेवा करने के लिए किसी राजा महाराजा को भी यह अमर कीर्ति नहीं मिली। क्षत्रियों के नैतिक नियमों में केवल वीरता ही नहीं थी बल्कि अपने स्वामी और अपने राजा के लिए जान देना भी उसका एक अंग था। आल्हा और ऊदल की जिन्दगी इसकी सबसे अच्छी मिसाल है। सच्चा

क्षत्रिय क्या होता था और उसे क्या होना चाहिये खूबसूरती से इन दोनों भाइयों ने दिखा दिया है, उसकी मिसाल हिन्दुस्तान के किसी दूसरे हिस्से में मुश्किल से मिल सकेगी। आल्हा और ऊदल की वीरता और उनके कारनामे एक चन्देली कवि ने शायद उन्हीं के जमाने में गाये, और उसको इस सूबे में जो लोकप्रियता प्राप्त है वह शायद रामायण को भी न हो।

यह कविता आल्हा ही के नाम से प्रसिद्ध है और आठ-नौ शताब्दियाँ गुजर जाने के बावजूद उसकी दिलचस्पी और सर्वप्रियता में अन्तर नहीं आया। आल्हा गाने का इस प्रदेश में बड़ा रिवाज है। देहात में लोग हजारों की संख्या में आल्हा सुनने के लिए जमा होते हैं। शहरों में भी कभी-कभी यह मण्डलियाँ दिखाई दे जाती हैं। बड़े लोगों की अपेक्षा सर्वसाधारण में यह किस्सा अधिक लोकप्रिय है। किसी मजलिस में जाइए हजारों आदमी जमीन के फर्श पर बैठे हुए हैं, सारी महफिल जैसे बेसुध हो रही है और आल्हा गाने वाला किसी मोढ़े पर बैठा हुआ अपनी अलाप सुना रहा है। उसकी आवज आवश्यकतानुसार कभी ऊँची हो जाती है और कभी मद्धिम, मगर जब वह किसी लड़ाई और उसकी तैयारियों का जिक्र करने लगता है तो शब्दों का प्रवाह, उसके हाथों और भावों के इशारे, ढोल की मर्दाना लय उन पर वीरतापूर्ण शब्दों का चुस्ती से बैठना, जो लड़ाई की कविताओं ही की अपनी एक विशेषता है, यह सब चीजें मिलकर सुनने वालों के दिलों में मर्दाना जोश की एक उमंग सी पैदा कर देती हैं। बयान करने का तर्ज ऐसा सादा और दिलचस्प और जबान ऐसी सामान्य है कि उसके समझने में जरा भी दिक्कत नहीं होती।

वर्णन और भावों की सादगी, कला के सौंदर्य का प्राण है। राजा परमालदेव चन्देल खानदान का आखिरी राजा था। तेरहवीं शाताब्दी के आरम्भ में वह खानदान समाप्त हो गया। महोबा जो एक मामूली कस्बा है उस जमाने में चन्देलों की राजधानी थी। महोबा की सल्तनत दिल्ली और कन्नौज से आंखें मिलाती थी। आल्हा और ऊदल इसी राजा परमालदेव के दरबार के सम्मानित सदस्य थे। यह दोनों भाई अभी बच्चे ही थे कि उनका बाप जसराज एक लड़ाई में मारा गया। राजा को अनाथों पर तरस आया, उन्हें राजमहल में ले आये और मोहब्बत के साथ अपनी रानी मलिनहा को सुपुर्द कर दिया। रानी ने उन दोनों भाइयों की परवरिश और लालन-पालन अपने लड़के की तरह किया। जवान होकर यही दोनों भाई बहादुरी में सारी दुनिया में मशहूर हुए। इन्हीं दिलावरों के कारनामों ने महोबे का नाम रोशन कर दिया है।

बड़े लड़इया महोबेवाला जिनके बल को वार न पार

आल्हा और ऊदल राजा परमालदेव पर जान कुर्बान करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। रानी मलिनहा ने उन्हें पाला, उनकी शादियां कीं, उन्हें गोद में खिलाया। नमक के हक के साथ-साथ इन एहसानों और सम्बन्धों ने दोनों भाइयों को चन्देल राजा का जाँनिसार रखवाला और राजा परमालदेव का वफादार सेवक बना दिया था। उनकी वीरता के कारण आस-पास के सैकडों घमंडी राजा चन्देलों के अधीन हो गये। महोबा राज्य की सीमाएँ नदी की बाढ़ की तरह फैलने लगीं और चन्देलों की शक्ति दूज के चाँद से बढ़कर पूरनमासी का चाँद हो गई। यह दोनों वीर कभी चैन से न बैठते थे। रणक्षेत्र में अपने हाथ का जौहर दिखाने की उन्हें धुन थी। सुख-सेज पर उन्हें नींद न आती थी। और वह जमाना भी ऐसा ही बेचैनियों से भरा हुआ था। उस जमाने में चैन से बैठना दुनिया के परदे से मिट जाना था। बात-बात पर तलवारें चलतीं और खून की नदियाँ बहती थीं। यहाँ तक कि शादियाँ भी खूनी लड़ाइयों जैसी हो गई थीं। लड़की पैदा हुई और शामत आ गई। हजारों सिपाहियों, सरदारों और सम्बन्धियों की जानें दहेज में देनी पड़ती थीं। आल्हा और ऊदल उस पुरजोर जमाने की सच्ची तस्वीरें हैं और ऐसी हालतों और जमाने के साथ जो नैतिक दुर्बलताएँ और विषमताएँ पाई जाती हैं, उनके असर से वह भी बचे हुए नहीं हैं, मगर उनकी दुर्बलताएँ उनका कसूर नहीं बल्कि उनके जमाने का कसूर हैं।

आल्हा का मामा माहिल एक काले दिल का, मन में द्वेष पालने वाला आदमी था। इन दोनों भाइयों का प्रताप और ऐश्वर्य उसके हृदय में काँटे की तरह खटका करता था। उसकी जिन्दगी की सबसे बड़ी आरजू यह थी कि उनके बड़प्पन को किसी तरह खाक में मिला दे। इसी नेक काम के लिए उसने अपनी जिन्दगी न्यौछावर कर दी थी। सैंकड़ों वार किये, सैंकड़ों बार आग लगायी, यहाँ तक कि आखिरकार उसकी नशा पैदा करनेवाली मंत्रणाओं ने राजा परमाल को मतवाला कर दिया। एक रोज राजा परमाल दरबार में अकेले बैठे हुए थे कि माहिल आया। राजा ने उसे उदास देखकर पूछा, भइया, तुम्हारा चेहरा कुछ उतरा हुआ है। माहिल की आँखों में आँसू आ गये। मक्कार आदमी को अपनी भावनाओं पर जो अधिकार होता है वह किसी बड़े योगी के लिए भी कठिन है। उसका दिल रोता है मगर होंठ हँसते हैं, दिल खुशियों के मजे लेता है मगर आँखें रोती हैं, दिल डाह की आग से जलता है मगर जबान से शहद और शक्कर की नदियाँ बहती हैं। माहिल बोला-महाराज, आपकी छाया में रहकर मुझे दुनिया में अब

किसी चीज की इच्छा बाकी नहीं मगर जिन लोगों को आपने धूल से उठाकर आसमान पर पहुँचा दिया और जो आपकी कृपा से आज बड़े प्रताप और ऐश्वर्यवाले बन गये, उनकी कृतघ्नता और उपद्रव का वर्णन करना मेरे लिए बड़े दु:ख का कारण हो रही है। परमाल ने आश्चर्य से पूछा- क्या मेरा नमक खाने वालों में ऐसे भी लोग हैं? महिला- महाराज, मैं कुछ नहीं कह सकता। आपका हृदय कृपा का सागर है मगर उसमें एक खूंखार घड़ियाल आ घुसा है। -वह कौन है? -मैं। राजा ने आश्चर्यान्वित होकर कहा-तुम! महिल- हाँ महाराज, वह अभागा व्यक्ति मैं ही हूँ। मैं आज खुद अपनी फरियाद लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। अपने सम्बन्धियों के प्रति मेरा जो कर्तव्य है वह उस भक्ति की तुलना में कुछ भी नहीं जो मुझे आपके प्रति है।

आल्हा मेरे जिगर का टुकड़ा है। उसका मांस मेरा मांस और उसका रक्त मेरा रक्त है। मगर अपने शरीर में जो रोग पैदा हो जाता है उसे विवश होकर हकीम से कहना पड़ता है। आल्हा अपनी दौलत के नशे में चूर हो रहा है। उसके दिल में यह झूठा खयाल पैदा हो गया है कि मेरे ही बाहु-बल से यह राज्य कायम है। राजा परमाल की आंखें लाल हो गयीं, बोला-आल्हा को मैंने हमेशा अपना लड़का समझा है। माहिल- लड़के से ज्यादा। परमाल- वह अनाथ था, कोई उसका संरक्षक न था। मैंने उसका पालन-पोषण किया, उसे गोद में खिलाया। मैंने उसे जागीरें दीं, उसे अपनी फौज का सिपहसालार बनाया। उसकी शादी में मैंने बीस हजार चन्देल सूरमाओं का खून बहा दिया। उसकी माँ और मेरी मलिनहा वर्षों गले मिलकर सोई हैं और आल्हा क्या मेरे एहसानों को भूल सकता है? माहिल, मुझे तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं आता। माहिल का चेहरा पीला पड़ गया। मगर सम्हलकर बोला- महाराज, मेरी जबान से कभी झूठ बात नहीं निकली। परमाल- मुझे कैसे विश्वास हो? महिल ने धीरे से राजा के कान में कुछ कह दिया।

आल्हा और ऊदल दोनों चैगान के खेल का अभ्यास कर रहे थे। लम्बे-चौड़े मैदान में हजारों आदमी इस तमाशे को देख रहे थे। गेंद किसी अभागे की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता था। चोबदार ने आकर कहा-महाराज ने याद फरमाया है। आल्हा को सन्देह हुआ। महाराज ने आज बेवक्त क्यों याद किया? खेल बन्द हो गया। गेंद को ठोकरों से छुट्टी मिली। फौरन दरबार में चौबदार के साथ हाजिर हुआ और झुककर आदाब बजा लाया। परमाल ने कहा- मैं तुमसे कुछ मागूँ? दोगे? आल्हा ने सादगी से जवाब दिया-फरमाइए।

परमाल–इनकार तो न करोगे? आल्हा ने कनखियों से माहिल की तरफ देखा समझ गया कि इस वक्त कुछ न कुछ दाल में काला है। इसके चेहरे पर यह मुस्कराहट क्यों? गूलर में यह फूल क्यों लगे? क्या मेरी वफादारी का इम्तहान लिया जा रहा है? जोश से बोला–महाराज, मैं आपकी जबान से ऐसे सवाल सुनने का आदी नहीं हूँ। आप मेरे संरक्षक, मेरे पालनहार, मेरे राजा हैं। आपकी भँवों के इशारे पर मैं आग में कूद सकता हूँ और मौत से लड़ सकता हूँ। आपकी आज्ञा पाकर में असम्भव को सम्भव बना सकता हूँ आप मुझसे ऐसे सवाल न करें। परमाल– शाबाश, मुझे तुमसे ऐसी ही उम्मीद है। आल्हा–मुझे क्या हुक्म मिलता है? परमाल– तुम्हारे पास नाहर घोड़ा है? आल्हा ने 'जी हाँ' कहकर माहिल की तरफ भयानक गुस्से भरी हुई आँखों से देखा। परमाल– अगर तुम्हें बुरा न लगे तो उसे मेरी सवारी के लिए दे दो। आल्हा कुछ जवाब न दे सका, सोचने लगा, मैंने अभी वादा किया है कि इनकार न करूँगा। मैंने बात हारी है। मुझे इनकार न करना चाहिए।

निश्चय ही इस वक्त मेरी स्वामिभक्ति की परीक्षा ली जा रही है। मेरा इनकार इस समय बहुत बेमौका और खतरनाक है। इसका तो कुछ गम नहीं। मगर मैं इनकार किस मुँह से करूँ, बेवफा न कहलाऊँगा? मेरा और राजा का सम्बन्ध केवल स्वामी और सेवक का ही नहीं है, मैं उनकी गोद में खेला हूँ। जब मेरे हाथ कमजोर थे, और पाँव में खड़े होने का बूता न था, तब उन्होंने मेरे जुल्म सहे हैं, क्या मैं इनकार कर सकता हूँ? विचारों की धारा मुड़ी– माना कि राजा के एहसान मुझ पर अनगिनती हैं मेरे शरीर का एक–एक रोआँ उनके एहसानों के बोझ से दबा हुआ है मगर क्षत्रिय कभी अपनी सवारी का घोड़ा दूसरे को नहीं देता। यह क्षत्रियों का धर्म नहीं। मैं राजा का पाला हुआ और एहसानमन्द हूँ। मुझे अपने शरीर पर अधिकार है। उसे मैं राजा पर न्यौछावर कर सकता हूँ। मगर राजपूती धर्म पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, उसे मैं नहीं तोड़ सकता। जिन लोगों ने धर्म के कच्चे धागे को लोहे की दीवार समझा है, उन्हीं से राजपूतों का नाम चमक रहा है। क्या मैं हमेशा के लिए अपने ऊपर दाग लगाऊँ? आह! महिला ने इस वक्त मुझे खूब जकड़ रखा है। सामने खूंखार शेर है, पीछे गहरी खाई। या तो अपमान उठाऊँ या कृतन कहलाऊँ। या तो क्षत्रियों के नाम को डुबोऊँ या बर्बाद हो जाँऊ। खैर, जो ईश्वर की मर्जी, मुझे कृतघ्न कहलाना स्वीकार है, मगर अपमानित होना स्वीकार नहीं। बर्बाद हो जाना मंजूर है, मगर राजपूतों के धर्म में बट्टा लगाना मंजूर नहीं। आल्हा सर नीचा किये इन्हीं खयालों में गोते खा रहा

था। यह उसके लिए परीक्षा की घड़ी थी जिसमें सफल हो जाने पर उसका भविष्य निर्भर था। मगर महिला के लिए यह मौका उसके धीरज की कम परीक्षा लेने वाला न था। वह दिन अब आ गया जिसके इन्तजार में कभी आँखें नहीं या की। खुशियों की यह बाढ़ अब संयम की लोहे की दीवार को काटती जाती थी। सिद्ध योगी पर दुर्बल मनुष्य की विजय होती जा रही। एकाएक परमाल ने आल्हा से बुलन्द आवाज में पूछा- किस दुविधा में हो? क्या नहीं देना चाहते? आल्हा ने राजा से आंखें मिलाकर कहा-जी नहीं। परमाल को तैश आ गया, कड़ककर बोला-क्यों? आल्हा ने अविचल मन से उत्तर दिया-यह राजपूतों का धर्म नहीं है। परमाल-क्या मेरे एहसानों का यही बदला है? तुम जानते हो, पहले तुम क्या थे और अब क्या हो? आल्हा-जी हाँ, जानता हूँ। परमाल- तुम्हें मैंने बनाया है और मैं ही बिगाड़ सकता हूँ। आल्हा से अब सब्र न हो सका, उसकी आँखें लाल हो गयीं और त्योरियों पर बल पड़ गये। तेज लहजे में बोला- महाराज, आपने मेरे ऊपर जो एहसान किए, उनका मैं हमेशा कृतज्ञ रहूँगा। क्षत्रिय कभी एहसान नहीं भूलता। मगर आपने मेरे ऊपर एहसान किए हैं, तो मैंने भी जी तोड़कर आपकी सेवा की है। सिर्फ नौकरी और नमक का हक अदा करने का भाव मुझमें वह निष्ठा और गर्मी नहीं पैदा कर सकता जिसका मैं बार-बार परिचय दे चुका हूँ। मगर खैर, अब मुझे विश्वास हो गया कि इस दरबार में मेरा गुजर न होगा। मेरा आखिरी सलाम कबूल हो और अपनी नादानी से मैंने जो कुछ भूल की है वह माफ की जाए। माहिल की ओर देखकर उसने कहा- मामा जी, आज से मेरे और आपके बीच खून का रिश्ता टूटता है। आप मेरे खून के प्यासे हैं तो मैं भी आपकी जान का दुश्मन हूँ।

आल्हा की माँ का नाम देवल देवी था। उसकी गिनती उन हौसले वाली उच्च विचार की स्त्रियों में है जिन्होंने हिन्दुस्तान के पिछले कारनामों को इतना स्पृहणीय बना दिया है। उस अंधेरे युग में भी जबकि आपसी फूट और बैर की एक भयानक बाढ़ मुल्क में आ पहुँची थी, हिन्दुस्तान में ऐसी ऐसी देवियाँ पैदा हुई जो इतिहास के अंधेरे से अंधेरे पन्नों को भी ज्योतित कर सकती हैं। देवल देवी से सुना कि आल्हा ने अपनी आन को रखने के लिए क्या किया तो उसकी आखों भर आई। उसने दोनों भाइयों को गले लगाकर कहा- बेटा ,तुमने वही किया जो क्षत्रिय का धर्म था। मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ कि तुम जैसे दो बाप की लाज रखने वाले बेटे पाये हैं। उसी रोज दोनों भाइयों ने महोबा से कूच कर दिया अपने साथ अपनी तलवार और घोड़ो के सिवा और कुछ न लिया।

माल–असबाब सब वहीं छोड़ दिये, सिपाही की दौलत और इज्जत सबक कुछ उसकी तलवार है। जिसके पास वीरता की सम्पति है उसे दूसरी किसी सम्पति की जरुरत नहीं। बरसात के दिन थे, नदी नाले उमड़े हुए थे। इन्द्र की उदारताओं से मालामाल होकर जमीन फूली नहीं समाती थी। पेड़ो पर मोरों की रसीली झनकारे सुनाई देती थीं और खेतों में निश्चिन्तता की शराब से मतवाले किसान मल्हार की तानें अलाप रहे थे। पहाड़ियों की घनी हरियावल पानी की दर्पण जैसी सतह और जगंली बेल बूटों के बनाव संवार से प्रकृति पर एक यौवन बरस रहा था। मैदानों की ठंडी–ठडीं मस्त हवा जंगली फूलों की मीठी मीठी, सुहानी, आत्मा को उल्लास देनेवाली महक और खेतों की लहराती हुई रंग बिरंगी उपज ने दिलो में आरजुओं का एक तूफान उठा दिया था। ऐसे मुबारक मौसम में आल्हा ने महोबा को आखिरी सलाम किया। दोनों भाइयो की आँखे रोते रोते लाल हो गयी थीं क्योंकि आज उनसे उनका देश छूट रहा था।

इन्हीं गलियों में उन्होंने घुटने के बल चलना सीखा था, इन्ही तालाबों में कागज की नावें चलाई थीं, यही जवानी की बेफिक्रियों के मजे लूटे थे। इनसे अब हमेशा के लिए नाता टूटता था। दोनो भाई आगे बढ़ते जाते थे, मगर बहुत धीरे–धीरे। यह खयाल था कि शायद परमाल ने रुठनेवालों को मनाने के लिए अपना कोई भरोसे का आदमी भेजा होगा। घोड़ो को सम्हाले हुए थे, मगर जब महोबे की पहाड़ियो का आखिरी निशान आँखों से ओझल हो गया तो उम्मीद की आखिरी झलक भी गायब हो गयी। जिनका कोई देश न था एक ठंडी सांस ली और घोड़े बढ़ा दिये। उनके निर्वासन का समाचार बहुत जल्द चारों तरफ फैल गया। उनके लिए हर दरबार में जगह थी, चारों तरफ से राजाओ के सदेश आने लगे। कन्नौज के राजा जयचन्द ने अपने राजकुमार को उनसे मिलने के लिए भेजा। संदेशों से जो काम न निकला वह इस मुलाकात ने पूरा कर दिया। राजकुमार की खातिदारियाँ और आवभगत दोनों भाइयों को कन्नौज खींच ले नई। जयचन्द आंखें बिछाये बैठा था। आल्हा को अपना सेनापति बना दिया।

आल्हा और ऊदल के चले जाने के बाद महोबे में तरह–तरह के अंधेर शुरु हुए। परमाल कमजी शासक था। मातहत राजाओं ने बगावत का झण्डा बुलन्द किया। ऐसी कोई ताकत न रही जो उन झगड़ालू लोगों को वश में रख सके। दिल्ली के राजा पृथ्वीराज की कुछ सेना सिमता से एक सफल लड़ाई लड़कर वापस आ रही थी। महोबे में पड़ाव किया। अक्खड़ सिपाहियों में तलवार चलते कितनी देर लगती

है। चाहे राजा परमाल के मुलाजियों की ज्यादती हो चाहे चौहान सिपाहियों की, नतीजा यह हुआ कि चन्देलों और चौहानों में अनबन हो गई। लड़ाई छिड़ गई। चौहान संख्या में कम थे। चंदेलों ने आतिथ्य-सत्कार के नियमों को एक किनारे रखकर चौहानों के खून से अपना कलेजा ठंडा किया और यह न समझे कि मुठ्ठी भर सिपाहियों के पीछे सारे देश पर विपत्ति आ जाएगी। बेगुनाहों का खून रंग लायेगा। पृथ्वीराज को यह दिल तोड़ने वाली खबर मिली तो उसके गुस्से की कोई हद न रही। ऑधी की तरह महोबे पर चढ़ दौड़ा और सिरको, जो इलाका महोबे का एक मशहूर कस्बा था, तबाह करके महोबे की तरह बढ़ा। चन्देलों ने भी फौज खड़ी की। मगर पहले ही मुकाबिले में उनके हौसले पस्त हो गये। आल्हा-ऊदल के बगैर फौज बिन दूल्हे की बारात थी। सारी फौज तितर-बितर हो गयी। देश में तहलका मच गया। अब किसी क्षण पृथ्वीराज महोबे में आ पहुँचेगा, इस डर से लोगों के हाथ-पाँव फूल गये। परमाल अपने किये पर बहुत पछताया। मगर अब पछताना व्यर्थ था। कोई चारा न देखकर उसने पृथ्वीराज से एक महीने की सन्धि की प्रार्थना की। चौहान राजा युद्ध के नियमों को कभी हाथ से न जाने देता था। उसकी वीरता उसे कमजोर, बेखबर और नामुस्तैद दुश्मन पर वार करने की इजाजत न देती थी। इस मामले में अगर वह इन नियमों को इतनी सख्ती से पाबन्द न होता तो शहाबुद्दीन के हाथों उसे वह बुरा दिन न देखना पड़ता।

उसकी बहादुरी ही उसकी जान की गाहक हुई। उसने परमाल का पैगाम मंजूर कर लिया। चन्देलों की जान में जान आई। अब सलाह-मशविरा होने लगा कि पृथ्वीराज से क्योंकर मुकाबला किया जाये। रानी मलिनहा भी इस मशविरे में शरीक थीं। किसी ने कहा, महोबे के चारों तरफ एक ऊँची दीवार बनायी जाय, कोई बोला, हम लोग महोबे को वीरान करके दक्खिन को ओर चलें। परमाल जबान से तो कुछ न कहता था, मगर समर्पण के सिवा उसे और कोई चारा न दिखाई पड़ता था। तब रानी मलिनहा खड़ी होकर बोली तुम कैसी बच्चों की-सी बातें करते हो? क्या दीवार खड़ी करके तुम दुश्मन को रोक लोगे? झाड़ू से कहीं ऑधी रुकती है ! तुम महोबे को वीरान करके भागने की सलाह देते हो। ऐसी कायरों जैसी सलाह औरतें दिया करती हैं। तुम्हारी सारी बहादुरी और जान पर खेलना अब कहाँ गया? अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि चन्देलों के नाम से राजे थर्राते थे।

चन्देलों की धाक बंधी हुई थी, तुमने कुछ ही सालों में सैंकड़ों मैदान जीते, तुम्हें कभी हार नहीं हुई। तुम्हारी तलवार की दमक कभी मन्द नहीं हुई।

तुम अब भी वही हो, मगर तुममें अब वह पुरुषार्थ नहीं है। वह पुरुषार्थ बनाफल वंश के साथ महोबे से उठ गया। देवल देवी के रुठने से चण्डिका देवी भी हमसे रुठ गई। अब अगर कोई यह हारी हुई बाजी सम्हाल सकता है तो वह आल्हा है। वही दोनों भाई इस नाजुक वक्त में तुम्हें बचा सकते हैं। उन्हीं को मनाओ, उन्हीं को समझाओं, उन पर महोबे के बहुत हक हैं। महोबे की मिट्टी और पानी से उनकी परवरिश हुई है। वह महोबे के हक कभी भूल नहीं सकते, उन्हें ईश्वर ने बल और विद्या दी है, वही इस समय विजय का बीड़ा उठा सकते हैं।' रानी मलिनहा की बातें लोगों के दिलों में बैठ गयीं।

जगना भाट आल्हा और ऊदल को कन्नौज से लाने के लिए रवाना हुआ। यह दोनों भाई राजकुँवर लाखन के साथ शिकार खेलने जा रहे थे कि जगना ने पहुँचकर प्रणाम किया। उसके चेहरे से परेशानी और झिझक बरस रही थी। आल्हा ने घबराकर पूछा–कवीश्वर, यहाँ कैसे भूल पड़े? महोबे में तो खैरियत है? हम गरीबों को क्योंकर याद किया? जगना की आँखों में आँसू भर जाए, बोला–अगर खैरियत होती तो तुम्हारी शरण में क्यों आता। मुसीबत पड़ने पर ही देवताओं की याद आती है। महोबे पर इस वक्त इन्द्र का कोप छाया हुआ है। पृथ्वीराज चौहान महोबे को घेरे पड़ा है। नरसिंह और वीरसिंह तलवारों की भेंट हो चुके है। सिरकों सारा राख को ढेर हो गया। चन्देलों का राज वीरान हुआ जाता है। सारे देश में कुहराम मचा हुआ है। बड़ी मुश्किलों से एक महीने की मौहलत ली गई है और मुझे राजा परमाल ने तुम्हारे पास भेजा है। इस मुसीबत के वक्त हमारा कोई मददगार नहीं है, कोई ऐसा नहीं है जो हमारी जब से तुमने महोबे से नाता तोड़ा है तब से राजा परमाल के होंठों पर हँसी नहीं आई। जिस परमाल को उदास देखकर तुम बेचैन हो जाते थे उसी परमाल की आँखें महीनों से नींद को तरसती हैं।

रानी महिलना, जिसकी गोद में तुम खेले हो, रात-दिन तुम्हारी याद में रोती रहती है। वह अपने झरोखें से कन्नौज की तरफ आँखें लगाये तुम्हारी राह देखा करती है। ऐ बनाफल वंश के सपूतो ! चन्देलों की नाव अब डूब रही है। चन्देलों का नाम अब मिटा जाता है। अब मौका है कि तुम तलवारे हाथ में लो। अगर इस मौके पर तुमने डूबती हुई नाव को न सम्हाला तो तुम्हें हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा क्योंकि इस नाम के साथ तुम्हारा और तुम्हारे नामी बाप का नाम भी डूब जाएगा। आल्हा ने रुखेपन से जवाब दिया–हमें इसकी अब कुछ परवाह नहीं है। हमारा और हमारे बाप का नाम तो उसी दिन डूब गया, जब हम बेकसूर महोबे

से निकाल दिए गए। महोबा मिट्टी में मिल जाय, चन्देलों को चिराग गुल हो जाय, अब हमें जरा भी परवाह नहीं है। क्या हमारी सेवाओं का यही पुरस्कार था जो हमको दिया गया? हमारे बाप ने महोबे पर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये, हमने गोड़ों को हराया और चन्देलों को देवगढ़ का मालिक बना दिया। हमने यादवों से लोहा लिया और कठियार के मैदान में चन्देलों का झंडा गाड़ दिया। मैंने इन्ही हाथों से कछवाहों की बढ़ती हुई लहर को रोका। गया का मैदान हमीं ने जीता, रीवाँ का घमण्ड हमीं ने तोड़ा। मैंने ही मेवात से खिराज लिया। हमने यह सब कुछ किया और इसका हमको यह पुरस्कार दिया गया है? मेरे बाप ने दस राजाओं को गुलामी का तौक पहनाया। मैंने परमाल की सेवा में सात बार प्राणलेवा जख्म खाए, तीन बार मौत के मुँह से निकल आया। मैने चालीस लड़ाइयाँ लड़ी और कभी हारकर न आया।

ऊदल ने सात खूनी मार्के जीते। हमने चन्देलों की बहादुरी का डंका बजा दिया। चन्देलों का नाम हमने आसमान तक पहुँचा दिया और इसके यह पुरस्कार हमको मिला है? परमाल अब क्यों उसी दगाबाज माहिल को अपनी मदद के लिए नहीं बुलाते जिसकों खुश करने के लिए मेरा देश निकाला हुआ था ! जगना ने जवाब दिया–आल्हा ! यह क्षत्रियों की बातें नहीं हैं। तुम्हारे बाप ने जिस राज पर प्राण न्यौछावर कर दिये वही राज अब दुश्मन के पांव तले रौंदा जा रहा है। उसी बाप के बेटे होकर भी क्या तुम्हारे खून में जोश नहीं आता? वह राजपूत जो अपने मुसीबत में पड़े हुए राजा को छोड़ता है, उसके लिए नरक की आग के सिवा और कोई जगह नहीं है। तुम्हारी मातृभूमि पर बर्बादी की घटा छायी हुई हैं। तुम्हारी माँ और बहनें दुश्मनों की आबरु लूटनेवाली निगाहों को निशाना बन रही है, क्या अब भी तुम्हारे खून में जोश नहीं आता? अपने देश की यह दुर्गति देखकर भी तुम कन्नौज में चैन की नींद सो सकते हो? देवल देवी को जगना के आने की खबर हुई। उसने फौरन आल्हा को बुलाकर कहा–बेटा, पिछली बातें भूल जाओं और आज ही महोबे चलने की तैयारी करो। आल्हा कुछ जबाव न दे सका, मगर ऊदल झुँझलाकर बोला–हम अब महोबे नहीं जा सकते। क्या तुम वह दिन भूल गये जब हम कुत्तों की तरह महोबे से निकाल दिए गए? महोबा डूबे या रहे, हमारा जी उससे भर गया, अब उसको देखने की इच्छा नहीं हे।

अब कन्नौज ही हमारी मातृभूमि है। राजपूतनी बेटे की जबान से यह पाप की बात न सुन सकी, तैश में आकर बोली–ऊदल, तुझे ऐसी बातें मुंह से निकालते हुए शर्म नहीं आती ? काश, ईश्वर मुझे बाँझ ही रखता कि ऐसे बेटों

की माँ न बनती। क्या इन्हीं बनाफल वंश के नाम पर कलंक लगाने वालों के लिए मैंने गर्भ की पीड़ा सही थी? नालायको, मेरे सामने से दूर हो जाओ। मुझे अपना मुँह न दिखाओ। तुम जसराज के बेटे नहीं हो, तुम जिसकी रान से पैदा हुए हो वह जसराज नहीं हो सकता। यह मर्मान्तक चोट थी। शर्म से दोनों भाइयों के माथे पर पसीना आ गया। दोनों उठ खड़े हुए और बोले- माता, अब बस करो, हम ज्यादा नहीं सुन सकते, हम आज ही महोबे जायेंगे और राजा परमाल की खिदमत में अपना खून बहायेंगे। हम रणक्षेत्र में अपनी तलवारों की चमक से अपने बाप का नाम रोशन करेंगे। हम चौहान के मुकाबिले में अपनी बहादुरी के जौहर दिखायेंगे और देवल देवी के बेटों का नाम अमर कर देंगे।

दोनों भाई कन्नौज से चले, देवल भी साथ थी। जब वह रुठनेवाले अपनी मातृभूमि में पहुँचे तो सूखे धानों में पानी पड़ गया, टूटी हुई हिम्मतें बंध गयी। एक लाख चन्देल इन वीरों की अगवानी करने के लिए खड़े थे। बहुत दिनों के बाद वह अपनी मातृभूमि से बिछुड़े हुए इन दोनों भाइयों से मिले। ऑखों ने खुशी के ऑसू बहाए। राजा परमाल उनके आने की खबर पाते ही कीरत सागर तक पैदल आया। आल्हा और ऊदल दौड़कर उसके पांव से लिपट गए। तीनों की आंखों से पानी बरसा और सारा मनमुटाव धुल गया। दुश्मन सर पर खड़ा था, ज्यादा आतिथ्य-सत्कार का मौकर न था, वहीं कीरत सागर के किनारे दरबार के कर्मचारियों की राय से आल्हा फौज का सेनापति बनाया गया। वहीं मरने-मारने के लिए सौगन्धें खाई गई। वहीं बहादुरों ने कसमें खाई कि मैदान से हटेंगे तो मरकर हटेंगें। वहीं लोग एक दूसरे के गले मिले और अपनी किस्मतों को फैसला करने चले।

आज किसी की ऑखों में और चेहरे पर उदासी के चिन्ह न थे, औरतें हँस-हँस कर अपने प्यारों को विदा करती थीं, मर्द हँस-हँसकर स्त्रियों से अलग होते थे क्योंकि यह आखिरी बाजी है, इसे जीतना जिन्दगी और हारना मौत है। उस जगह के पास जहाँ अब और कोई कस्बा आबाद है, दोनों फौजों को मुकाबला हुआ और अठारह दिन तक मारकाट का बाजार गर्म रहा। खूब घमासान लड़ाई हुई। पृथ्वीराज खुद लड़ाई में शरीक था। दोनों दल दिल खोलकर लड़े। वीरों ने खूब अरमान निकाले और दोनों तरफ की फौजें वहीं कट मरीं। तीन लाख आदमियों में सिर्फ तीन आदमी जिन्दा बचे-एक पृथ्वीराज, दूसरा चन्दा भाट तीसरा आल्हा। पृथ्वीराज के शब्द भेदी बाण से उदल की मौत हुई Amny की मौत से आल्हा समझ गया कि इस धरती से जाने का समय आ गया है। उसने

अपने गुरू गोरखनाथ जी का दिया हुया बिजुरिया नामक दिव्यास्त्र हाथ में लेकर पृथ्वीराज को मारने चल पड़े। आल्हा को आता देखकर पृथ्वीराज का सेनापति चंदरबरदई ने पृथ्वीराज से कहा राजा आल्हा के समान इस धरती पर कोई दूसरा वीर नहीं है यदि जिंदा रहना चाहते हो तो आल्हा के सामने हथियार मत उठाना।

पृथ्वीराज ने आल्हा के सामने हाथ जोड़ लिए। इसी समय वहाँ पर गुरु गोरखनाथ आगाए उन्होने आल्हा से कहा ये दिव्यास्त्र धरती के साधारण मनुस्यों पर चलाने के लिए नहीं है और बे आल्हा को अपने साथ स-शरीर स्वर्ग ले गए। बैरागढ़ अकोढ़ी गाँव जिला जालौन में आल्हा की गाड़ी हुई एक सांग आज भी है। जो माता शारदा के मंदिर के प्रांगण में है। माता के मंदिर में आज भी सुबह पुजारियों को दरवाजे खोलने पर दो फूल चढ़े मिलते है। कहते हैं ये फूल आल्हा चढ़ाते है। काफी लोगों ने सच्चाई पता करने की कोशिश की। लेकिन जो रात में मंदिर में रुका बो सुबह जिंदा नहीं मिला। आप भी जाकर सच्चाई पता कर सकते हैं।

ऐसी भयानक अटल और निर्णायक लड़ाई शायद ही किसी देश और किसी युग में हुई हो। दोनों ही हारे और दोनों ही जीते। चन्देल और चौहान हमेशा के लिए खाक में मिल गए क्योंकि थानेसर की लड़ाई का फैसला भी इसी मैदान में हो गया। चौहानों में जितने अनुभवी सिपाही थे, वह सब औरई में काम आए। शहाबुद्दीन से मुकाबला पड़ा तो नौसिखिये, अनुभवहीन सिपाही मैदान में लाये गये और नतीजा वही हुआ जो हो सकता था।

जनता में अब तक यही विश्वास है कि वह जिन्दा है। लोग कहते हैं कि वह अमर हो गया। यह बिल्कुल ठीक है क्योंकि आल्हा सचमुच अमर है और वह कभी मिट नहीं सकता, उसका नाम हमेशा कायम रहेगा।

लोरिकी

यह मुख्य रूप से अहीरों की लोकगाथा है। भोजपुरी अंचल में अहीर लोग उत्सवों तथा शुभ अवसरों पर लोरिकी बड़े उत्साह से गाते हैं। नायक लोरिक के शौर्य से ही यह गाथा भरी पड़ी है। लोरिक का चरित्र प्रधान होने से यह लोकगाथा लोरिकी के नाम से अभिहित हुई। लोरिक का मुख्य उद्देश्य सती स्त्रियों का उद्धार तथा दुष्टों का विनाश करना था। चार खंडों में यह लोकगाथा गाई जाती है। इसमें वीरकाव्य के सभी गुण विद्यमान है। यद्यपि यह मुख्य रूप से भोजपुरी प्रदेशों में ही गाई जाती है पर इसके भिन्न-भिन्न रूप मैथिली, छत्तीसगढ़ी तथा बँगला में भी मिलते हैं।

विजयमल

इसमें विजयमल का मल्ल क्षत्रियों के प्रतिनिधि के रूप में चित्रण किया गया है। यह भी एक वीरगाथा है जिसमें युद्ध के वर्णन के साथ मल्ल क्षत्रियों के शौर्य का विशेष उद्‌घाटन किया गया है। इसमें विवाह के कारण युद्ध हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह लोकगाथा मध्य युगीन हो। 'विजयमल' का जन्म रोहीदस गढ़ (रोहतासगढ़) नामक स्थान पर हुआ था। उसके दादा का नाम बुद्धूमल और पिता का नाम धीड़मल सिंह था। इसकी माता मैनावती वीर क्षत्राणी थी। विजयमल का भाई हिरवा तथा भावज शोभामती थी। जब विजयमल युवावस्था को प्राप्त हुआ, तब इसका विवाह बावन गढ़ के राजा बावनसूबा की लड़की तिलकी से होना निश्चित हुआ, परंतु विवाह के लिए जब बारात बावन गढ़ पहुँची, तब वहाँ के राजा ने किसी कारण से रुष्ट होकर सभी बारातियों को जेलखाने में बन्द करवा दिया। कुँवर विजयमल किसी प्रकार से बचकर अपने देश को चला आया। यह बड़ा ही वीर और पराक्रमी व्यक्ति था। इसने बावन गढ़ के राजा से अपमान का बदला चुकाने के लिए बहुत बड़ी सेना एकत्र की और उस पर आक्रमण कर दिया। बावन गढ़ के राजकुमार का नाम मानिक चन्द था, जो बड़ा वीर तथा युद्ध कुशल था। बावन गढ़ में कुँवर विजयमल और मानिक चन्द का बड़ा ही घनघोर युद्ध हुआ। सैरोघाटन नामक स्थान पर भी इनमें संघर्ष हुआ, जिसमें कुँवर विजयमल की मृत्यु हो गयी, परंतु देवी के आशीर्वाद से उसे पुनः जीवन प्राप्त हो गया और अंत में युद्ध में इसकी विजय हुई। तिलकी से विवाह के पश्चात् कुँवर विजयमल के चार पुत्र उत्पन्न हुए। वह सपरिवार आनन्द से राजसुख को भोगता हुआ अपने दिन बिताने लगा।

कुँवर विजयमल की गाथा में मैना' और गोबिना' नामक दो प्रेमियों की कथा भी सम्मिलित है, परंतु इसका आधिकारिक कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। विजयमल की गाथा भोजपुरी प्रदेश में बहुत प्रचलित है। यह वीर रस से ओत-प्रोत है। जब गवैये इसे लयपूर्वक गाने लगते हैं, तब श्रोताओं की एक अच्छी खासी भीड़ एकत्र हो जाती है। ग्रियर्सन ने बंगाल एशियाटिक सोसायटी' की पत्रिका में विजयमल' के गीत के संकलन तथा सम्पादन के अतिरिक्त इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। आजकल वर्तमान लोक कवियों के द्वारा लिखी कुँवर विजयमल' के गीत की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें आरा जिला निवासी महादेव प्रसाद सिंह की लिखी पुस्तक प्रसिद्ध है।

बाबू कुँवरसिंह की लोकगाथा

यह भोजपुरी प्रदेशों में बड़े उत्साह और शौर्यप्रदर्शन के साथ गाई जाती है। यह अमर गाथा भोजपुरी वीरता का प्रतिनिधित्व करती है। बाबू कुँवरसिह बिहार के शाहाबाद जिलातर्गत भोजपुरी गाँव के रहनेवाले थे। आप एक छोटे से राज्य के शासक थे। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में आप अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। यह गाथा इतनी प्रभावकारी है कि जहाँ एक ओर श्रोता वीरता से झूमने लगते हैं, वहाँ आठ आठ आँसू भी बहाते देखे जाते हैं। बाबू कुँवर सिंह का विशेष सम्मान आज भी भोजपुरी अंचलों में किया जाता है, क्योंकि उन्होंने अंग्रेजों से लोहा लेकर स्वतंत्रता के संग्राम में देशवासियों का साथ दिया था।

बिहुला

इस लोकगाथा को बिहुला बाला लखंदर के नाम से भोजपुरी अंचल में सुना जा सकता है। इसमें स्त्रियों की पतिव्रतता का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण हुआ है। वहाँ इसका स्थान सावित्री सत्यवान से किसी भी स्थिति में कम नहीं है। बिहुला अपने पति बाला लखंदर को, जिसे, साँप काट खाता है, बचाने के लिए स्वर्ग जाती हैं और वहाँ अपने अभीष्ट को प्राप्त करती हैं। पूर्वी बिहार और बंगाल में नागपंचमी के दिन बिहुला सती की पूजा होती है। गायक इस गाथा को बड़ी ही श्रद्धा के साथ गाते हैं। स्त्रियों में यह गाथा अधिक लोकप्रिय है। इस लोकगाथा का मैथिली और बँगला रूप भी मिलता है।

राजा गोपीचंद

राजा गोपीचंद का नाम नाथ संप्रदाय के अंतर्गत एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। नौ नाथों में इन्हें भी एक नाथ का स्थान प्राप्त था। इनकी गाथा विशेष रूप से जोगियों में ही प्रचलित है। गोपीचंद राजपाट, भोगविलास सब कुछ छोड़कर माता मैनावती के कहने पर वैराग्य ग्रहण करने वन में चले गए। उनके इस त्याग की कथा ही प्रस्तुत लोकगाथा में प्रचलित है। भारतवर्ष की प्रायः समस्त जनपदीय बोलियों में गोपीचंद की गाथा प्रचलित है। चूँकि गोपीचंद का संबंध बंगाल के पालवंश से था, इसलिए इस गाथा का सबसे अधिक प्रचलन बंगाल में है। यह लोकगाथा भोजपुरी, मगही, मैथिली, पंजाबी, सिंधी इत्यादि में भी पाई जाती है।

राजा भरथरी

राजा भरथरी भी नाथपंथी थे। नौ नाथों में इनका भी नाम लिया जाता है। राजा भरथरी और रानी सामदेई का वृत्तांत ही इस लोकगाथा का वर्ण्य विषय है। इसे प्राय: जोगी लोग ही गाते हैं। राजा भरथरी का संबंध उज्जैन के राजवंश से था। किन्हीं कारणों से कालांतर में इन्होंने गुरु गोरखनाथ का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और अपनी युवा रानी को छोड़कर योगी बन गए। इनके कई ग्रंथ भी मिलते हैं। ऐसी धारणा है कि ये राजा विक्रमादित्य के बड़े भाई तथा राजा गोपीचंद के भांजे थे।

भरथरी कथा में दो पात्र है - भरथरी और गोपीचन्द, जिनसे ये कथा शुरु होती है। राजा भरथरी और भान्जा गोपीचन्द। भरथरी की कथा बिहार में, उत्तरप्रदेश में, बंगाल में प्रचलित है। छत्तीसगढ़ में भरथरी की कथा कैसे आई - इसके सम्बन्ध में विद्वानों का अलग अलग मत है। नन्दकिशोर तिवारी जी का कहना है कि बंगाल के जोगी जब उज्जैन जाते थे, उस यात्रा के वक्त छत्तीसगढ़ में भी भरथरी की कथा प्रचलित हो गई थी - भरथरी और गोपीचन्द दोनों नाथ-पंथी थे।

नाथ-पंथी योगियों का जो सम्प्रदाय हैं, वह सम्प्रदाय नवीं दसवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। बंगाल बिहार और उसके आसपास योगी नाम की एक जाति रहती थी। ये लोग छुआछुत नहीं मानते थे, जात पात नहीं मानते थे। बहुत ही उन्नत मानसिकता के थे वे लोग। वे लोग नाथ पंथी योगियों जैसे थे। नाथ पंथी योगियों का सम्प्रदाय नेपाल में बौद्ध और शैव साधनों के मिश्रण से हुई थी, और इसके बाद यह सम्प्रदाय पूरे हिन्दी प्रदेश में फैल गई। इस सम्प्रदाय के लोग पढ़े लिखे नहीं होने के कारण अशिक्षित माना जाता था। पर इनसे जो शिक्षा मिलती थी, वह बहुत से शिक्षित लोग नहीं दे पाये थे। ये लोग अपने को जोगी कहते थे। लोग उन्हें नकारते थे ये कहके कि ये लोग शास्त्र विहीन है। ये लोग लोक-गीतों के माध्यम से लोगों का दिल जीत लेते थे। छत्तीसगढ़ में भरथरी को योगी कहते हैं। छत्तीसगढ़ी भरथरी किसी जाति विशेष का गीत नहीं है। जो भरथरी का गीत गातें हैं वे योगी कहलाते हैं। गीत में भी अपने आप को वे योगी कहते हैं-

शुरु में भरथरी एक अकेला इन्सान गाया करता था वह खंजरी बजाकर गाता था। बाद में वाद्यों के साथ भरथरी का गायन होने लगा। वाद्यों में तबला,

हारमोनियम, मंजीरा के साथ साथ बेंजो भी था। धीरे धीरे इसका रूप बदलता गया और भरथरी योगी गाना गाते और साथ साथ नाचते भी हैं। ये बहुत स्वाभाविक है कि गीत के साथ नृत्य भी शामिल हो गया। न सिर्फ छत्तीसगढ़ में बल्कि पूरे हिन्दी बेल्ट में बहुत प्रेम से गाया जाता है और सुना जाता है। लोक कथा एक जगह से दूसरी जगह यात्रा करती है और जहाँ पहुँचती है वहाँ के परम्पराओं से प्रभावित होकर वहीं की बन जाती है। छत्तीसगढ़ की भरथरी में हम देखते है कि कई जगह सतनाम का उल्लेख है।

छत्तीसगढ़ में सतनाम पंथ प्रचलित है जिसमे सतनाम का अर्थ है नाम की महिमा। इसीलिये धीरे धीरे भरथरी में भी सतनाम शब्द का इस्तेमाल किया गया है

भरथरी के बारे में बहुत किंवदन्तियाँ हैं।

भरथरी एक ऐसा चरित्र है जिसके बारे में कहा जाता है कि वे योगी बने थे। भरथरी उज्जैन का राजा था। अब भरथरी क्यों योगी बनकर राज्य छोड़कर चले गये थे, इसके बारे में अलग अलग कहानियाँ प्रचलित है जिसमें आखिर में गोरखनाथ के कृपा से सब ठीक हो जाता है और भरथरी गोरखनाथ के शिष्य बन जाते हैं।

एक कथा के अनुसार भरथरी की पत्नी पिंगला जब किसी और पुरुष से प्यार करने लगती है, भरथरी संन्यासी बनकर राज्य छोड़कर दूर चले जाते हैं।

दूसरी ओर एक कहानी बिल्कुल इसके विपरीत है जिसमें रानी पिंगला पति से बेहद प्रेम करती है। कहानी में राजा भरथरी एक बार शिकार खेलने गए थे। उन्होंने वहाँ देखा कि एक पत्नी ने अपने मृत पति की चिता में कूद कर अपने प्राण त्याग दिए। राजा भरथरी बहुत ही आश्चर्य चकित हो गए उस पत्नी का प्यार देखकर। वे सोचने लगे कि क्या मेरी पत्नी भी मुझसे इतना प्यार करती है। अपने महल में वापस आकर राजा भरथरी जब ये घटना अपनी पत्नी पिंगला से कहते हैं, पिंगला कहती है कि वह तो यह समाचार सुनने से ही मर जाएगी। चिता में कूदने के लिए भी वह जीवित नहीं रहेगी। राजा भरथरी सोचते हैं कि वे रानी पिंगला की परीक्षा लेकर देखेंगे कि ये बात सच है कि नहीं। फिर से भरथरी शिकार खेलने जाते हैं और वहाँ से समाचार भेजते हैं कि राजा भरथरी की मृत्यु हो गई। ये खबर सुनते ही रानी पिंगला मर जाती है। राजा भरथरी बिल्कुल टूट जाता है, अपने आप को दोषी ठहराते हैं और विलाप करते हैं। पर गोरखनाथ की कृपा से रानी पिंगला जीवित हो जाती है और इस घटना के बाद राजा भरथरी गोरखनाथ के शिष्य बनकर चले जाते हैं।

नन्दकिशोर तिवारी जी जिन्होंने भरथरी-छत्तीसगढ़ी लोकगाथा पर गहन अध्ययन किया, और अनुवाद किया, बहुत ही रोचक है उनका अनुवाद। नीचे उनका अनुवाद दिया गया है - जिसमें भरथरी की माता भरथरी के जन्म से पहले पुत्र कामना की अग्नि से भुन रही है और फिर भरथरी का जन्म वृतान्त (छत्तीसगढ़ी गीत , सम्पादक - जमुनाप्रसाद कसार)

बालक टेर ये बबूर के पर के पथरा ल ओ कय दिन नोनी ह का सहय बालक टेर ये बबूर के पर के पथरा ल ओ कय दिन कइना ह का सहय कइना तयमूर ओर, जेमा नइये दीदी मोर लाठी के मार ले खावय ओं, बाई खाये ओ, रानी ये दे जी जऊने समय कर बेरा मा सुनिले भगवान कइसे विधि कर कइना रोवत है सतखण्डा ए ओ सातखण्ड के ओगरी बत्तीस खण्ड के न अंधियारी मा राम साय गु मा मोर कलपी-कलप रानी रोवय बाई रोवय ओ, रानी ये दे जी हिन्दी अनुवाद-

बबूल के पेड़ में फूल के सदृश्य पुत्र की कल्पना है दु:खों के पहाड़ का वजन कब तक सहे रानी और, सहती रहे लाठी की मार हे ! भगवान इस दारुण दु:ख का भार लिए रो रही है कन्या सातखण्डों का जलाशय और बत्तीस खण्डों के अंधियारे में घिरी कलप-कलप रो रही है रानी। मुझसे छोटे और छोटों की गोद में देखो तो गूंज रही है बच्चों की किलकारी सूनी है गोद मुझ अभागिन की कलप-कलप रो रही है रानी। छत्तीसगढ़ी में -

मोर ले छोटे अऊ छोटे के सुन्दर गोदी मा ओ देख तो दीदी बालक खेलते हैं मोर अभागिन के ओ मोर गोदी मा राम बालक नइये गिंया मोर जइसे विधि कर रानी ओ बाई रोवय ओ, बाई ये दे जी। तरिया बैरी नदिया मा संग जंवसिहा ओ देख तो दीदी ताना मारते हैं छोटे छोटे के ओ सुन्दर गोदी मा राम बालक खेलत हयँ न मोर अभागिन के गोदी मा बालक ओ बाई नइये ओ, आनी रोवय ओ, बाई ये दे जी सोते बैरी सतखण्जा ये सोरा खण्ड के ओगरी छाहें जेखर मया बइठे है फुलवा रानी ओ चल सोचथे राम सुनिले भगवान मोला का तो जोनी ए दे दिये ओ भगवान ओ, बाई ये दे जी। कइसे विधि कर लिखा ल नई तो काटय दाई का दु:ख ला रानी का रोवत है बाल ऊ मर है बालक नई ये गिंया ठुकरावथे राम मोल गली-गली रानी रोवय ओ बाई रोवय ओ, रानी ये दे जी। हिन्दी अनुवाद-

मुझसे छोटे और छोटों की गोद में देखो तो गूँज रही है बच्चों की किलकारी सूनी है गोद मुझ अभागिन की कलप-कलप रो रही है रानी। सँगी सहेलियाँ तालाब और नदी में देती है ताना उनकी सुन्दर गोद में खेल रहे हैं बच्चे मुझ

अभागिन की है गोद खाली सात खण्डों के जलाशय की छाँह में भी प्यासा मातृत्व है कहती है रानी फुलबा हे ! भगवान किस योनि में दिया है जन्म तुमने? लेख करम का मिटता नहीं बाली ऊमर है पुत्र के अभाव में गली गली ठोकर-खाती रो रही है रानी।

कथासरित्सागर

कथासरित्सागर, संस्कृत कथा साहित्य का शिरोमणि ग्रंथ है। इसकी रचना कश्मीर में पंडित सोमदेव (भट्ट) ने त्रिगर्त अथवा कुल्लू कांगड़ा के राजा की पुत्री, कश्मीर के राजा अनंत की रानी सूर्यमती के मनोविनोदार्थ 1063 ई और 1082 ई. के मध्य संस्कृत में की।

सोमदेव रचित कथासरित्सागर गुणाढ्य की बृहत्कथा का सबसे बेहतर, बड़ा और सरस रूपांतरण है। वास्तविक अर्थों में इसे भारतीय कथा परंपरा का महाकोश और भारतीय कहानी एवं जातीय विरासत का सबसे अच्छा प्रतिनिधि माना जा सकता है। मिथक, इतिहास यथार्थ, फैंटेसी, सचाई, इन्द्रजाल आदि का अनूठा संगम इन कथाओं में है। ईसा से लेकर मध्यकाल तक की भारतीय परंपराओं और सांस्कृतिक धाराओं के इस दस्तावेज में तांत्रिक अनुष्ठानों, प्राकेतर घटनाओं तथा गंधर्व, किन्नर, विद्याधर आदि दिव्य योनि के प्राणियों के बारे में ढेरों कथाएं हैं। साथ ही मनोविज्ञान सत्य, हमारी सामाजिक-आर्थिक स्थितियों तथा धार्मिक आस्थाओं की छवि और विक्रमादित्य, बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, किस्सा तोता मैना आदि कई कथाचक्रों का समावेश भी इसमें हैं।

कथासरित्सागर में 21,388 पद्म हैं और इसे 124 तरंगों में बाँटा गया है। इसका एक दूसरा संस्करण भी प्राप्त है जिसमें 18 लंबक हैं। लंबक का मूल संस्कृत रूप लंभक' था। विवाह द्वारा स्त्री की प्राप्ति लंभ कहलाती थी और उसी की कथा के लिए लंभक शब्द प्रयुक्त होता था। इसीलिए रत्नप्रभा लंबक, मदनमंचुका लंबक, सूर्यप्रभा लंबक आदि अलग-अलग कथाओं के आधार पर विभिन्न शीर्षक दिए गए होंगे।

मूल स्रोत

कथासरित्सागर गुणाढ्यकृत बड्डकहा (बृहत्कथा) पर आधारित है जो पैशाची भाषा में थी। सोमदेव ने स्वयं कथासरित्सागर के आरंभ में कहा है– मैं बृहत्कथा के सार का संग्रह कर रहा हूँ। बड्ड कहा की रचना गुणाढय

ने सातवाहन राजाओं के शासनकाल में की थी जिनका समय ईसा की प्रथम द्वितीय शती के लगभग माना जाता है। आंध्र-सातवाहनयुग में भारतीय व्यापार उन्नति के चरम शिखर पर था। स्थल तथा जल मार्गो पर अनेक सार्थवाह नौकाएँ और पोतसमूह दिन-रात चलते थे। अतः व्यापारियों और उनके सहकर्मियों के मनोरंजनार्थ, देश-देशांतर-भ्रमण में प्राप्त अनुभवों के आधार पर अनेक कथाओं की रचना स्वाभाविक थी। गुणाढय ने सार्थो, नाविकों और सांयात्रिक व्यापारियों में प्रचलित विविध कथाओं को अपनी विलक्षण प्रतिभा से गुंफित कर, **बड्ड कहा** के रूप में प्रस्तुत कर दिया था।

मूल **बड्ड कहा** अब प्राप्य नहीं है, परंतु इसके जो दो रूपांतर बने, उनमें चार अब तक प्राप्त हैं। इनमें सबसे पुराना बुधस्वामीकृत बृहत्कथा लोकसंग्रह है। यह संस्कृत में है और इसका प्रणयन, एक मत से, लगभग ईसा की पाँचवीं शती में तथा दूसरे मत से, आठवीं अथवा नवीं शती में हुआ। मूलतः इसमें 28 सर्ग तथा 4,539 लोक थे किंतु अब यह खंडशःप्राप्त है। इसके कर्ता बुधस्वामी ने बृहत्कथा को गुप्तकालीन स्वर्णयुग की संस्कृति के अनुरूप ढालने का यत्न किया है। बृहत्कथा लोकसंग्रह को विद्धान् बृहत्कथा की नेपाली वाचना मानते हैं किंतु इसका केवल हस्तलेख ही नेपाल में मिला है, अन्य कोई नेपाली प्रभाव इसमें दिखाई नहीं पड़ता।

बृहत्कथा के मूल रूप का अनुमान लगाने के लिए संघदासगणिकृत वसुदेव हिंडी का प्राप्त होना महत्वपूर्ण घटना है। इसकी रचना भी बृहत्कथा लोकसंग्रह के प्रायः साथ ही या संभवतः 100 वर्ष के भीतर हुई। वसुदेव हिंड्डी का आधार भी यद्यपि बृहत्कथा ही है, तो भी ग्रंथ के ठाट और उद्देश्य में काफी फेरबदल कर दिया गया है। बृहत्कथा मात्र लौकिक कामकथा थी जिसमें वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के विभिन्न विवाहों के आख्यान थे, लेकिन वसुदेव हिंडी में जैन धर्म संबंधी अनेक प्रसंग सम्मिलित करके, उसे धर्मकथा का रूप दे दिया गया है। इतना ही नहीं, इसका नायक नरवाहनदत्त न होकर, अंधक वृष्णि वंश के प्रसिद्ध पुरुष वसुदेव हैं। हिंडी शब्द का अर्थ पर्यटन' अथवा परिभ्रमण' है। वसुदेव हिंडी में 29 लंबक हैं और महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में गद्य शैली के माध्यम से लगभग 11,000 लोक प्रमाण की सामग्री में वसुदेव के 100 वर्ष के परिभ्रमण का वृत्तांत है जिसमें वे 29 विवाह करते हैं। सब कुछ मिलाकर लगता है कि वसुदेव हिंडी बृहत्कथा का पर्याप्त प्राचीन रूपांतर है।

वसुदेव हिंडी के अनंतर क्षेमेंद्र कृत बृहत्कथामंजरी का स्थान है। क्षेमेंद्र कश्मीरनरेश अनंत (1029-1064) की सभा के सभासद् थे। उनका मूल नाम व्यासदास था। रामायणमंजरी, भारतमंजरी, अवदानकल्पलता, कलाविलास, देशोपदेश, नर्ममाला और समयमातृका नामक ग्रंथों में क्षेमेंद्र की प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप मिलता है। क्षेमेंद्रकृत बृहत्कथामंजरी में 18 लंबक हैं और उनके नाम भी सोमदेव के लंबकों से मिलते हैं। इसमें लगभग 7,540 लोक हैं और लेखक ने शब्दलाघव के माध्यम से संक्षेप में सुरुचिपूर्ण प्रेमकथाएँ प्रस्तुत की हैं जिनका मूलाधार बृहत्कथा की कहानियाँ ही हैं।

कथासरित्सागर में प्रथम लंबक कथापीठ, द्वितीय लंबक कथामुख', तृतीय लावणक', चतुर्थ लंबक नरवाहनदत्त का जन्म, पंचम चतुर्दारिका, 'षष्ठ सूर्यप्रभा, सप्तम् मदनमंचुका, अष्टम वेला, नवम् शशांकवती, दशम् विषमशील, एकादश मदिरावती, द्वादश पद्मावती, त्रयोदश पंच, चतुर्दश रत्नप्रभा, पंचदश अलंकारवती, षष्ठदश शक्तियशय, सप्तदश महाभिषेक, अष्टदश सुरतमंजरी है।

कथासरित्सागर में पहला लंबक कथापीठ है। गुणाढ्य कवि संबंधी कथानक उसका विषय है जिसमें पार्वती के शाप से शिव का गण पुष्पदंत वररुचि कात्यायन के रूप में जन्म लेता है और उसका भाई माल्यवान् गुणाढ्य के नाम से उत्पन्न होता है। वररुचि विंध्यपर्वतमाला में काणभूति नामक पिशाच को शंकर द्वारा पार्वती को सुनाई गई सात कथाएँ सुनाता है। गुणाढ्य काणभूति से उक्त कथाएँ सुनकर बृहत्कथा की रचना करता है, जिसके छह भाग आग में नष्ट हो जाते हैं और केवल सातवाँ भाग ही शेष बचता है, जिसके आधार पर कथासरित्सागर की रचना की जाती है।

दूसरा लंबक कथामुख और तीसरा लावणक है जिसमें वत्सराज उदयन, उसकी रानी वासवदत्ता, मंत्री यौगंधरायण, पद्मावती आदि की कथाएँ हैं।

चौथे लंबक में नरवाहनदत्त का जन्म है। इसके आगे संपूर्ण ग्रंथ का मुख्य नायक वही है। शेष चतुर्दारिका, मदनमंचुका, रत्नप्रभा, सूर्यप्रभा, अलंकारवती, शक्तियशस्, वेला, शशांकवती, मदिरावती, पंच, महाभिषेक, सुरतमंजरी, पद्मावती तथा विषमशील इत्यादि लंबकों में नरवाहनदत्त के साहसिक कृत्यों, यात्राओं, विवाहों आदि की रोमांचक कथाएँ हैं जिनमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं तथा नगरों, राजतंत्र एवं षड्यंत्र, जादू और टोने, छल एवं कपट, हत्या और युद्ध, रक्तपायी वेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशुपक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे, साधु, पियक्कड़, जुआरी, वेश्या, विट तथा

कुट्टनी आदि की विविध कहानियाँ संकलित हैं। इतना ही नहीं, वेताल पंचविंशति या बेताल पच्चीसी की 25 कहानियाँ तथा पंचतंत्र की भी अनेक कहानियाँ इसमें मिल जाती हैं। सी.एच. टानी और एन.एम. पेंजर ने कथासरित्सागर का एक प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद (1924–28 ई.) 10 भागों में 'दि ओशन ऑव स्टोरी' नाम से प्रकाशित करवाया है जिसमें अनेक पादटिप्पणियों तथा निबंधों के माध्यम से भारतीय कथाओं एवं कथानक रूढ़ियों पर बहुमूल्य सामग्री जुटाई गई है।

अपने दो काश्मीरी रूपांतरों (कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी) में गुणाढय की मूल बृहत्कथा अत्यंत भ्रष्ट एवं अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। इन ग्रंथों में अनेक स्थलों पर मूल ग्रंथ का संक्षिप्त सारोद्धार कर दिया गया है और इनमें मूल ग्रंथ के कई अंश छोड़ भी दिए गए हैं एवं कितने ही नए अंश प्रक्षेप रूप में जोड़ दिए गए हैं। इस तरह मूल ग्रंथ की वस्तु और आयोजना में बेढंगे फेरफार हो गए। फलस्वरूप, इन काशमीरी कृतियों में कई प्रकार की असंगतियाँ आ गई और जोड़े हुए अंशों के कारण मूल ग्रंथ का स्वरूप पर्याप्त भ्रष्ट हो गया। इस स्थिति में बुधस्वामी के ग्रंथ में वस्तु की आयोजना द्वारा मूल प्राचीन बृहत्कथा का सच्चा चित्र प्राप्त होता है। किंतु खेद है कि यह चित्र पूरा नहीं है, क्योंकि बुधस्वामी के ग्रंथ का केवल चतुर्थांश ही उपलब्ध है। इसलिए केवल उसी अंश का काश्मीरी कृतियों के साथ तुलनात्मक मिलान शक्य है।

कहा जा सकता है कि सोमदेव ने सरल और अकृत्रिम रहते हुए आकर्षक एवं सुंदर रूप में कथासरित्सागर के माध्यम से अनेक कथाएँ प्रस्तुत की हैं जो निश्चित ही भारतीय मनीषा का एक अन्यतम उदाहरण है।

❐❐❐